प्रसाद की चतुर्दश पदियाँ

डॉ० किशोरीलाल गुप्त

H
811.6
G 959 P

H
811.6
G 959P

INDIAN INSTITUTE
OF
ADVANCED STUDY
LIBRARY, SHIMLA

प्रसाद की चतुर्दशापदियाँ

साहित्य वाचस्पति

डॉ० किशोरीलाल गुप्त

एम०ए०, पी-एच०डी०, डी० लिट्०

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

PRASAD KI CHATURDASHPADIYAN

by

Dr. Kishori Lal Gupta

ISBN : 81-7124-310-X

Library IIAS, Shimla
H 811.6 G 959 P
00120450

H
811.6
G959 P

प्रथम संस्करण : २००२ ई०

मूल्य : पचास रुपये

120450
25/10/05

प्रकाशक

विश्वविद्यालय प्रकाशन

चौक, वाराणसी-221 001

फोन व फैक्स : (0542) 353741, 353082

E-mail : vvp@vsnl.com ● E-mail : vvp@ndb.vsnl.net.in

मुद्रक

वाराणसी एलेक्ट्रॉनिक कलर प्रिण्टर्स प्रा०लि०

चौक, वाराणसी-221 001

प्रकाशकीय

डॉ० किशोरीलाल गुप्त हिन्दी के पुरासाहित्य के अध्येता विद्वान, शोधक, सम्पादक एवं समीक्षक के रूप में जाने जाते हैं। पर उन्होंने अपनी साहित्य-साधना प्रसाद के अध्ययन से प्रारम्भ की थी। इन्होंने इण्टर में पढ़ते समय १९३६-३८ में प्रसाद के अनुकरण पर चतुर्दशपदियाँ लिखनी शुरू की। वाजिरा और अलका नाम के उनके दो नाट्य-पात्रों के आधार पर दो खण्डकाव्य लिखे। 'प्रसाद नाट्यामृत कथा' नाम से उनके नाटकों की कथा लिखी, चार्ल्स जैम्स के 'टेल्स फ्राम शेक्सपियर' के ढंग पर। उनकी काव्य रचनाओं से एक चयन भी प्रस्तुत किया। उनकी ७० फुटकर रचनाओं का अंग्रेजी अनुवाद किया। एम०ए० में पढ़ते समय हस्तलिखित 'हिन्दी' का वृहत्काय प्रसाद विशेषांक निकाला। हिन्दी से एम०ए० करते समय १९४२-४३ में 'प्रसाद का विकासात्मक अध्ययन' नामक शोध प्रबन्ध लिखा। प्रसादजी पर इनके १५-१६ समीक्षात्मक निबन्ध भी हैं। १९४९-५० में शिबली कालेज, आजमगढ़ में अध्यापन करते समय इन्होंने कामायनी का अंग्रेजी में अनुवाद किया। आजमगढ़ के प्रवासकाल ही में इन्होंने १९५९ ई० में 'प्रसाद की चतुर्दशपदियों' का संकलन सम्पादन किया था।

डॉ० गुप्त की ८५ चतुर्दशपदियों का संकलन 'श्यामा' नाम से १९५३ में अभिनव प्रकाशन, आजमगढ़ से एवं 'प्रसाद की विकासात्मक अध्ययन' का प्रकाशन १९५४ में साहित्य रत्नमाला कार्यालय, वाराणसी से हो चुका है। अब इनकी 'प्रसाद की चतुर्दशपदियाँ' प्रकाशित करके मुझे अत्यन्त आह्लाद हो रहा है। इसकी भूमिका में डॉ० गुप्त ने हिन्दी की चतुर्दशपदियों का सम्यक् इतिहास देकर इस संकलन को और भी उपयोगी बना दिया है।

—पुरुषोत्तमदास मोदी

PRASAD KI CHATURDASHPADIYAN

by

Dr. Kishori Lal Gupta

ISBN : 81-7124-310-X

Library IIAS, Shimla
H 811.6 G 959 P
00120450

H
811.6
G959 P

प्रथम संस्करण : २००२ ई०

मूल्य : पचास रुपये

120450
25/10/05

प्रकाशक

विश्वविद्यालय प्रकाशन

चौक, वाराणसी-221 001

फोन व फैक्स : (0542) 353741, 353082

E-mail : vvp@vsnl.com ● E-mail : vvp@ndb.vsnl.net.in

मुद्रक

वाराणसी एलेक्ट्रॉनिक कलर प्रिण्टर्स प्रा०लि०

चौक, वाराणसी-221 001

प्रकाशकीय

डॉ० किशोरीलाल गुप्त हिन्दी के पुरासाहित्य के अध्येता विद्वान, शोधक, सम्पादक एवं समीक्षक के रूप में जाने जाते हैं। पर उन्होंने अपनी साहित्य-साधना प्रसाद के अध्ययन से प्रारम्भ की थी। इन्होंने इण्टर में पढ़ते समय १९३६-३८ में प्रसाद के अनुकरण पर चतुर्दशपदियाँ लिखनी शुरू की। वाजिरा और अलका नाम के उनके दो नाट्य-पात्रों के आधार पर दो खण्डकाव्य लिखे। 'प्रसाद नाट्यामृत कथा' नाम से उनके नाटकों की कथा लिखी, चार्ल्स जैम्स के 'टेल्स फ्राम शेक्सपियर' के ढंग पर। उनकी काव्य रचनाओं से एक चयन भी प्रस्तुत किया। उनकी ७० फुटकर रचनाओं का अंग्रेजी अनुवाद किया। एम०ए० में पढ़ते समय हस्तलिखित 'हिन्दी' का वृहत्काय प्रसाद विशेषांक निकाला। हिन्दी से एम०ए० करते समय १९४२-४३ में 'प्रसाद का विकासात्मक अध्ययन' नामक शोध प्रबन्ध लिखा। प्रसादजी पर इनके १५-१६ समीक्षात्मक निबन्ध भी हैं। १९४९-५० में शिबली कालेज, आजमगढ़ में अध्यापन करते समय इन्होंने कामायनी का अंग्रेजी में अनुवाद किया। आजमगढ़ के प्रवासकाल ही में इन्होंने १९५९ ई० में 'प्रसाद की चतुर्दशपदियों' का संकलन सम्पादन किया था।

डॉ० गुप्त की ८५ चतुर्दशपदियों का संकलन 'श्यामा' नाम से १९५३ में अभिनव प्रकाशन, आजमगढ़ से एवं 'प्रसाद की विकासात्मक अध्ययन' का प्रकाशन १९५४ में साहित्य रत्नमाला कार्यालय, वाराणसी से हो चुका है। अब इनकी 'प्रसाद की चतुर्दशपदियाँ' प्रकाशित करके मुझे अत्यन्त आह्लाद हो रहा है। इसकी भूमिका में डॉ० गुप्त ने हिन्दी की चतुर्दशपदियों का सम्यक् इतिहास देकर इस संकलन को और भी उपयोगी बना दिया है।

—पुरुषोत्तमदास मोदी

प्राक्कथन

मैं लवेट हाईस्कूल ज्ञानपुर में सातवीं कक्षा में पढ़ रहा था। बात १९३२-३३ की है। उस समय अंग्रेजी की पाठ्य-पुस्तक के एक लेख में वर्ड्सवर्थ की एक कविता आ गई थी। हमारे अंग्रेजी के अध्यापक थे श्री जगदम्बा प्रसाद जी। यह गाजीपुर जिले के पीथापुर के रहने वाले कायस्थ थे। वह अपने नाम के साथ 'पीथापुरी' भी लगाते थे। यह 'फोर्थ मास्टर' साहब के नाम से प्रख्यात थे। यह हिन्दी उर्दू के सुकवि एवं साहित्यिक अभिरुचि के व्यक्ति थे। पढ़ाते समय उन्होंने बताया था कि वर्ड्सवर्थ की उक्त कविता सानेट है, जिसे हिन्दी में चतुर्दशपदी कहते हैं। उन्होंने यह भी बताया था कि हिन्दी में जयशंकरप्रसाद जी ने चतुर्दशपदियाँ लिखी हैं। तभी से मैं सानेट और चतुर्दशपदी को जानता आ रहा हूँ।

इण्टरमीडिएट में क्वीन्स कालेज, वाराणसी में पढ़ते हुए १९३६-३८ में सानेट के सम्बन्ध में मुझे पूरी जानकारी हुई। इसी समय मैंने सम्पूर्ण प्रसाद साहित्य मनोयोगपूर्वक पढ़ा और उन्हींके प्रभाव क्षेत्र में आकर स्वयं भी चतुर्दशपदियाँ लिखनी शुरू कीं। पहली चतुर्दशपदी ६-११-३७ को लिखी गई। प्रसादजी का निधन १५ नवम्बर '३७ को कार्तिक देवोत्थान एकादशी को हुआ। तबसे मैंने ८६ चतुर्दशपदियाँ लिखीं, जो फरवरी १९५३ में 'श्यामा' में संकलित हुईं।

मैं १९४८ से १९६२ तक शिबली कालेज, आजमगढ़ में हिन्दी विभाग का अध्यक्ष प्रोफेसर था। उसी समय १९५९ में प्रसाद की चतुर्दशपदियों पर यह कार्य किया था, जो अब प्रकाश में आ रहा है, प्रायः ४१ वर्षों बाद। जहाँ 'शुभस्य शीघ्रम्' ठीक है, वहीं 'देर आयद दुरुस्त आयद' भी गलत नहीं है।

—किशोरीलाल गुप्त

श्रद्धा, श्राद्ध, श्रद्धांजलि

[चतुर्दशपदी]

दूरागत वंशी-रव' तेरा, कानों में है गूँज रहा
रागमयी संध्या मुसकाती, नभ धरणी को चूम रहा
पड़ी तूलिका दूर, रंग सब लुढ़क गया, हैं रेखाएँ
स्वर्ग खण्डहर की वह बातें, कौन हमें अब बतलाए?
रूप विलास और यौवन का, भाग्य आह क्यों मूक हुआ
सुधा-सीकरों से नहला दो, सहला दो दो टूक हिया
अभी कलेजा जुड़ जाएगा, पाकर परस क्षितिज तेरा
कुहुक बने मत, कला-कुसुम पर, करना मधुप शीघ्र फेरा
नवभाषा में प्राचीनों की, प्रलय-कथा कहने वाले
भारत के भग्नावशेष में, नवजीवन भरने वाले
ओ अतीत की सफल दृष्टि, अरुणा करुणा करने वाले
ओ उस गैरिकवसन यती पर, वरुणा पर मरने वाले
तुम हो कौन और मैं क्या हूँ, इसमें क्या है धरा सुनो
मानस-जलधि रहे चिर चुंबित, मेरे क्षितिज उदार बनो

—किशोरीलाल गुप्त

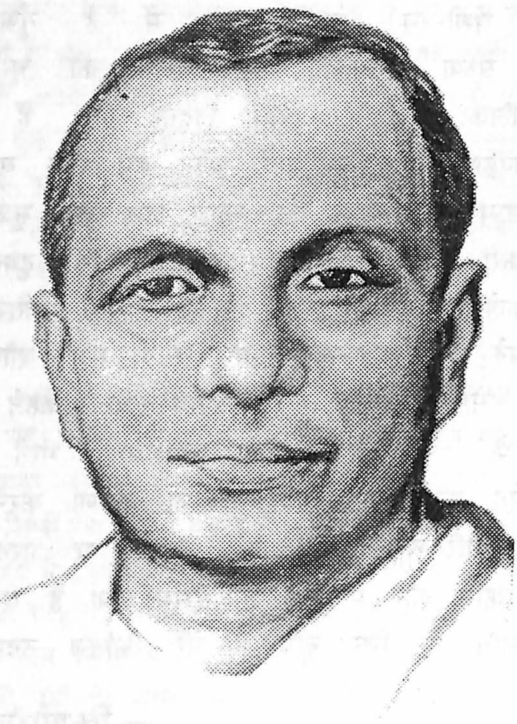

जयशङ्कर प्रसाद

समर्पण

त्वदीयं वस्तु गोविन्द,

तुभ्यमेव समर्पयेत्

—किशोरीलाल गुप्त

भूमिका

१. सानेट

'सानेट' एक काव्य-विधा है। इसका प्रारम्भ इटली में हुआ। पेट्रार्क इटली का रहने वाला था और सानेट का प्रवर्तक था। सर टामस वाट अंग्रेज था। उसकी शिक्षा-दीक्षा इटली में हुई थी। वह सानेट की विधा इटली से इंग्लैण्ड लाया। इंग्लैण्ड में सानेट का प्रचार ईसा की सोलहवीं शती में हुआ और इसे इटली से आने के कारण इटालियन सानेट कहा गया। पेट्रार्क ने इसे प्रचलित किया था, अत: यह पेट्रार्कन सानेट भी कहा गया।

सानेट में कुल चौदह चरण होते हैं। हर चरण में पाँच आयंम्बिक मीटर होते हैं। आयंबिक मीटर का अर्थ है—दो ऐसे सिलेबुल जिनमें पहला शार्ट और दूसरा लांग हो। सिलेबुल का अर्थ है—शब्दांश जो एक बार में उच्चरित हो। स्वयं 'सिलेबुल' में दो सिलेबुल हैं—एक 'सिले', दूसरा 'बुल'। 'फुल्ली' में 'फुल' एक सिलेबुल है, जो 'लांग' है—'ली' दूसरा सिलेबुल है, जो 'शार्ट' है।

सानेट के १४ चरण दो भागों में बँटे होते हैं। पहले आठ चरण, फिर दूसरे छह चरण। पहले आठ चरण Octave (अष्टक) कहलाते हैं। दूसरे छह चरण Sestet (षष्टक)। सभी चरण चल (Run-on) होते हैं। अष्टक के पश्चात पूर्ण विराम होता है।

पेट्रार्कन सानेट की तुक प्रणाली है—a b b a, a b b a, c d e, c d e.। अंग्रेजी सानेट ने इस तुक-प्रणाली में कुछ परिवर्तन किए, खासकर अन्तिम दो चरणों में। इन दोनों चरणों का एक तुक कर दिया गया। यह शेक्सपीरियन सानेट की विशेषता है। जान मिल्टन ने आक्टेव को सेसटेट से मिला दिया। आक्टेव के बाद पूर्ण विराम का बंधन नहीं स्वीकार किया।

सानेट न तो वर्णनात्मक (Narrative) होता है, न विवरणात्मक (Descriptive)। यह आत्मपरक होता है। इसमें एक ही भाव आदि से अंत तक होता है। सानेट में गीतमयता, संक्षिप्तता तथा आत्माभिव्यक्ति होनी चाहिए।

अंग्रेजी के प्रमुख सानेटियर वाट, सरे, स्पेंसर, सिडनी, शेक्सपियर, मिल्टन, वर्ड्सवर्थ और कीट्स आदि हैं।

हिन्दी में बँगला से चतुर्दशपदी का आगमन

बंगाल के प्रसिद्ध कवि माइकेल मधुसूदन दत्त ने सबसे पहले बँगला भाषा में सानेट लिखे। कुछ पता नहीं उन्होंने सानेट को चतुर्दशपदी कहा था या नहीं। हिन्दी में

सानेट का प्रथम प्रयोग करने वाले लोचनप्रसाद पाण्डेय थे। उन्होंने इसे चतुर्दशपदी कहा और तभी से सानेट को चतुर्दशपदी कहा जाने लगा।

मैथिलीशरण गुप्त ने बंगाल के प्रसिद्ध कवि माइकेल मधुसूदन दत्त के 'मेघनाद वध' का अमित्राक्षर छंदों में अनुवाद किया था। इसकी प्रथमावृत्ति सं० १९८४ (१९२७ ई०) में साहित्य-सदन चिरगाँव झाँसी से हुई थी। इसके प्रारम्भ में मधुसूदन दत्त की एक चतुर्दशपदी का यह अनुवाद दिया गया है—

मित्राक्षर

मैं तो उसे भाषे, क्रूर मानता हूँ सर्वथा
दुःख तुम्हें देने के लिए है गढ़ी जिसने
मित्राक्षर बेड़ी। हा! पहनने से इसने
दी है सदा कोमल पदों में कितनी व्यथा!
जल उठता है यह सोच मेरा जी, प्रिये,
भाव-रत्न हीन था क्या दीन उसका हिया,
झूठे ही सुहाग में भुलाने भरके लिए
उसने तुम्हें जो यह तुच्छ गहना दिया?
रँगने से लाभ क्या है फुल्ल शतदल के?
चंद्रकला उज्ज्वला है आप नीलाकाश में।
मंत्र-पूत करने से लाभ गंगा जल के?
गंध ढालना है व्यर्थ पारिजात-व्रास में।
प्रतिभा प्रकृति की सी कविता असल के
चीना वधू तुल्य पद क्यों हो लौह पाश में?

—चतुर्दश पदावली से अनूदित

तुक प्रणाली ध्यान देने योग्य है। यह अंग्रेजी की है—
ए बी बी ए, सी डी सी डी, ई एफ, ई एफ, ई एफ,

२. हिन्दी के प्रारम्भिक चतुर्दशपदीकार

१. लोचनप्रसाद पाण्डेय

जिस प्रकार छायावाद एवं आधुनिक रहस्यवाद हिन्दी में अंग्रेजी से आए, उसी प्रकार 'सानेट' भी हिन्दी में अंग्रेजी से आया। हिन्दी वालों ने सानेट की चरण-संख्या को प्रधानता देते हुए इसका हिन्दी नाम चतुर्दशपदी प्रचलित किया। इस नाम को गढ़ने का श्रेय श्री लोचनप्रसाद पाण्डेय को है। प्रभा भाग १, संख्या २ (६ मई १९१३) में पाण्डेय लोचनप्रसाद 'हिन्दी में चतुर्दशपदी पद्य अर्थात् Sonnet' शीर्षक में लिखते हैं—

"बंगाली में Sonnet के जन्मदाता माइकेल मधुसूदन दत्त हैं। उड़िया भाषा में इसके प्रचारक रायबहादुर मधुसूदन साव भक्त कवि हैं। मैंने अपनी सम्पादित 'कविता कुसुम माला' में दो चतुर्दशपदी पद्य लिख कर रख दिए हैं। उन पर अब तक किसी समालोचक ने विचार नहीं किया।"

'कविता कुसुम माला' की चतुर्दशपदियों के नाम हैं—'बाल्य स्मृति' और 'श्मशान'। इन दोनों कविताओं की पाद-टिप्पणी है—'A Sonnet (चतुर्दशपदी कविता)'। विभिन्न कवियों की कविताओं से विभूषित यह काव्य-संग्रह सन् १९१० ई० में इण्डियन प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुआ था। इस प्रकार इन चतुर्दशपदियों का प्रकाशनकाल १९१० ई० है। संभवत: इनका विरचन-काल भी १९१० ई० ही है। यह इससे कुछ पूर्व भी हो सकता है।

'सानेट' का रूपांतर पाण्डेयजी ने अपनी कविताओं की पाद-टिप्पणी में तो 'चतुर्दशपदी कविता' एवं प्रभा वाले लेख के शीर्षक एवं उसके अन्तर्गत 'चतुर्दशी पद्य' नाम से किया है। आजकल उसे केवल 'चतुर्दशपदी' कहते हैं। उसके साथ 'कविता' या 'पद्य' लगाने की आवश्यकता नहीं समझी जाती। प्रसाद जी ने यह अनावश्यक अंश काट दिया था। वे 'इंदु' में प्रकाशित अपनी चतुर्दशपदियों के शीर्षक के नीचे केवल 'चतुर्दशपदी' लिखते थे। पाण्डेय जी ने पाद-टिप्पणी में अपनी चतुर्दशपदियों की ओर पूर्ण संकेत कर दिया है, नहीं तो इस संग्रह में १४ चरणों की एक और कविता भी 'ईश-विनय' नाम की है। पाण्डेय जी ने इसे चतुर्दशपदी नहीं माना है। सम्भवत: इसमें संयोग से १४ पंक्तियाँ आ गई हैं। ऐसा मानने का उनके पास कारण है। पहले तो उन्होंने इसे चतुर्दशपदी समझकर नहीं लिखा। दूसरे इसकी रचना प्रणाली भी दोनों से अत्यधिक भिन्न है। इन दोनों का छंद १६, १५ के विराम से ३१ मात्राओं का ताटंक है, जिसका अन्तिम वर्ण सदैव लघु होता है। 'ईश विनय' में प्रत्येक दो चरणों का तुक मिलता चलता है, जैसा कि हिन्दी की सर्वमान्य स्वीकृत पद्धति है। किन्तु इन दोनों रचनाओं में तुक प्रणाली अंग्रेजी ढंग की है। 'श्मशान' में पेट्रार्कन सानेट की तुक प्रणाली का अनुकरण किया गया है। इसकी तुक प्रणाली को संकेतात्मक ढंग से इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं—

a b b a, a b b a, cd, c d, cd

'बाल्य स्तुति' की तुक प्रणाली है

ab, ab, ab, ab, cd, cd, cd

'बाल्य स्मृति' को हिन्दी की प्रथम चतुर्दशपदी होने का गौरव प्राप्त है, क्योंकि 'कविता-कुसुम-माला' में इसे पहले स्थान दिया गया है, 'श्मशान' को बाद में। इसलिए इसको यहाँ पूर्ण रूप से उद्धृत कर देना अप्रासंगिक एवं अनुपयुक्त न होगा।

बाल्य-स्मृति

कौन लूट ले गया हाय! मम बाल-काल का सुख भंडार?
कहाँ प्रबल उत्साह, कहाँ अब गई हृदय की शांति समूल?

कहाँ सखा संगिनी आदि का वह नैसर्गिक प्रेम अपार
आँख-मिचौनी, सुखद-धूल गृह खेल, कहाँ शैशव सुख मूल?
चला गया वह समय हाय! इस जीवन को करके निःसार
वही नयन, तनु वही, किंतु है दृश्य आज जग में प्रतिकूल
मुझे; बाल-संगिनी सखा मण भी करते हैं हाहाकार
इस जीवन के भीषण रण में पड़, निज-निज सुख कर निर्मूल
शांतिपूर्ण उस बाल काल के पावन सुख की होते याद
शोक अग्नि से तनु जलता है, व्याकुल होते हैं मन प्राण
स्थायी मुझे ज्ञात होता था पावन शैशव का आह्लाद
था नहि मेरे बाल हृदय को, कुटिल काल की गति का ज्ञान
चिर वंदी रोता है ज्यों नित सोच-सोच निज गृह सुख-स्वाद
त्यों अब मैं व्याकुल होता हूँ, उस सुख का कर मन में ध्यान

'ताटंक' छंद के लिए वह तुक-प्रणाली बहुत उपयुक्त नहीं ज्ञात होती। 'चल' पंक्तियाँ (Run-on lines) यहाँ अशोभन लगती हैं। फिर भी नया प्रयोग होने के नाते इन रचना का अभिनंदन होना चाहिए था। 'श्मशान' की तुक प्रणाली बिना किसी परिवर्तन के ली गई है और वह इस दृष्टि से अंग्रेजी चतुर्दशपदियों के अधिक निकट है। फिर भी उसमें उपदेशात्मकता आ गई है।

लोचनप्रसाद जी की कुछ और भी रचनाएँ हैं जो चौदह-चौदह पंक्तियों की हैं और जिनकी तुक प्रणाली हिन्दी की ही है। इन्हें उन्होंने चतुर्दशपदी संज्ञा नहीं दी है। अभिनव प्रयास होते हुए भी, ये रचनाएँ द्विवेदी स्कूल की हैं, इतिवृत्तात्मक हैं। इनमें आत्मचिंतन तथा आवेग का अत्यधिक अभाव है।

२. जयशंकर प्रसाद

हिन्दी के दूसरे चतुर्दशपदीकार जयशंकर प्रसाद जी हैं। इन्होंने चतुर्दशपदी के क्षेत्र में अनेक प्रयोग किए हैं। इन्होंने कुल २५ चतुर्दशपदियाँ लिखी हैं, जो चार कोटियों में विभक्त हैं—

(क) रोला + उल्लाला प्रणाली

इस पद्धति की रचनाओं में ३ रोला और अंत में एक उल्लाला है। इस प्रणाली पर उन्होंने तीन चतुर्दशपदियाँ लिखी हैं—रमणी-हृदय, नमस्कार और महाकवि तुलसीदास। ये सभी १९१३ ई० की रचनाएँ हैं।

(ख) अरिल्ल प्रणाली

'इंदु' जनवरी १९१३ में प्रसादजी की 'भरत' नामक एक लघु कविता २१ मात्राओं के अरिल्ल छंद में छपी। रचना अतुकांत है। विराम चिह्नों का प्रयोग

अर्थानुसारी है। पूर्ण विराम चरण-मध्य में भी पड़ जाता है। ऐसे चल चरणों (Run-on) का प्रयोग हिन्दी में अद्भुत है।

फरवरी १९१३ में इंदु ४.१.२ में, प्रसाद का गीति नाट्य करुणालय इसी अतुकांत, चल चरणों वाले, अरिल्ल छंद में प्रकाशित हुआ। इसीके अंत में रोहिताश्व की प्रार्थना के रूप में प्रसाद ने इस प्रणाली की पहली चतुर्दशपदी लिखी। यह छंद उन्हें चतुर्दशपदी के लिए अत्यंत उपयुक्त लगा और उन्होंने इसमें कुल ९ चतुर्दशपदियाँ लिखीं, जो इंदु में १९१४-१६ के बीच के दो वर्षों में प्रकाशित हुईं। ये हैं—

१. प्रार्थना (फरवरी १९१३), २. मेरी कचाई (अक्टूबर १९१४), ३. हमारा हृदय (जनवरी १९१५), ४. प्रत्याशा (फरवरी १९१५), ५. अर्चना (फरवरी १९१५) ६. स्वभाव (मार्च १५), ७. वसंत राका (मई १५), ८. दर्शन (अगस्त १५), ९ सुख भरी नींद (स्वप्नलोक) (सितम्बर १९१६)

(ग) ताटंक-प्रणाली।

१६-१५ मात्राओं के विराम से ३१ मात्राओं के छंद में विरचित ११ चतुर्दशपदियाँ हैं। इनका प्रकाशन काल १९१४-३३ है।

१. खोलो द्वार — जनवरी १४
२. प्रियतम — सितम्बर १४
३. नहीं डरते — १९१८
४. पाई बाग — १९१८
५. पतझड़ समीर — १९२६
६. गान — १९२७
७. दीप — १९२७
८. नीरद के प्रति — १९२७
९. अनुरोध — १९२७
१०. उलझन — १९२७
११. मनुहार — १९३३

(घ) गजल प्रणाली

'स्वर्ण संसार' का प्रकाशनकाल १९३३ नवम्बर है। यह प्रसाद जी की गजल शैली में लिखित दूसरी चतुर्दश पदी है और उनकी अंतिम चतुर्दशपदी है।

मार्च १९१२ के 'सरोज' नामक एक हिन्दी गजल छपी थी। इसमें १४ चरण हैं। पद संगीतात्मक है, पर यह रचना इतिवृत्तात्मक है, उपदेशात्मक है, स्वानुभूति रहित है।

इसी युग की प्रसाद जी की एक और हिन्दी गजल मोहन, इंदु अप्रैल १९१४ में प्रकाशित हुई। इसमें १६ पंक्तियाँ थीं। 'काननकुसुम' में संकलित करते समय इसकी अन्तिम दो पंक्तियाँ छोड़ दी गई हैं—

हम तुम हों एक जब फिर छिपना छिपाना कैसा

अपना 'प्रसाद' अमृत, हमको चखा दे मोहन

१४ पंक्ति के हो जाने पर भी यह गजल ही है, चतुर्दशपदी नहीं।

जून १९१५ की 'प्रभा' में पाण्डेय लोचन प्रसाद जी का एक दूसरा लेख है अतुकांत कविता पर। इसमें प्रसादजी के एक पत्र का हवाला है, जिसमें प्रसाद जी ने लिखा है कि तीन अतुकांत छंदों में उन्होंने चतुर्दशपदियाँ लिखकर छपवाई हैं। इंदु की फाइल उलटने पर पता चलता है कि ये चतुर्दशपदियाँ हैं—१. मेरी कचाई (अक्टूबर १९१४), २. हमारा हृदय (जनवरी १९१५), ३. प्रत्याशा (फरवरी १९१५)। प्रसाद जी का तात्पर्य 'तीन अतुकांत छंदों' से इन्हीं तीनों चतुर्दशपदियों की संख्या बतलाता है, न कि तीन प्रकार के अतुकांत छंदों में चर्तुदशपदियाँ लिखने का।

प्रसाद जी की प्राय: सभी चतुर्दशपदियाँ इंदु, माधुरी, सुधा, मनोरमा, चाँद आदि पत्रिकाओं में छपीं, फिर विभिन्न काव्य संग्रहों में या अन्य नाटक ग्रन्थों में सन्निविष्ट हुईं। इनमें से केवल दो चतुर्दशपदियाँ निर्ग्रंथ हैं, जो किसी संकलन में नहीं आई हैं। ये हैं—

१. मेरी कचाई, इंदु, अक्टूबर १९१४

२. वसंत राक़ा, इंदु, मई १९१५

प्रसाद ने अंग्रेजी तुक प्रणाली का प्रयोग हिन्दी के लिए उसी प्रकार अवांछनीय एवं अश्रेयस्कर समझा, जिस प्रकार वाट, सरे एवं शेक्सपियर ने इटालियन सानेट की तुक प्रणाली अंग्रेजी के लिए अनुपयुक्त समझी थी। प्रसाद जी ने अरिल्ल प्रणाली पर लिखित नौ चतुर्दशपदियाँ को अतुकांत रखा है, शेष सभी में दो-दो चरणों के तुक मिलते हैं, केवल दो में गजल प्रणाली पर तुक है।

प्रसाद जी हिन्दी की नब्ज पहचानते थे। इसीलिए विदेशी काव्य रूप को अपनाते हुए भी उन्होंने उसे देशी ही वस्त्र पहनाया और यह वस्तु उनके हाथ में विदेशी होते हुए भी स्वदेशी बन गई। प्रसाद जी ने आक्टेव एवं सेसटेट का भी विचार नहीं रखा, इसीलिए वे चतुर्दशपदी को स्वतंत्र सत्ता देने में समर्थ हो सके।

३. अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

पुराने खेवे के कवियों में प्रसाद जी की देखादेखी हरिऔध जी ने भी कुछ चतुर्दशपदियाँ लिखी हैं।

कल्प-लता में और पद्य-प्रमोद में ५ चतुर्दशपदियाँ हैं। सभी प्रसाद जी के प्रारम्भ में गृहीत एवं एक ही वर्ष में लिखित तीन रोला और अंत में एक उल्लाला वाले विषम छंद में हैं। पद्य-प्रमोद की पाँचों चतुर्दशपदियाँ हैं—

१. उष: काल, २. राग रंजित गगन, ३. भारत गगन, ४. उषा, ५. वर वनिता

ये पृष्ठ १५३-१५६ पर इसी क्रम से लगातार है। ये सभी वर्णनात्मक हैं, विषय

प्रधान हैं। एक उदाहरण लें—

भारत-गगन

अवनति-वाली-निशा काल-कवलित होवेगी
दिशा-कालिमा-कूट-नीति विदलित होवेगी
होगा कांति-विहीन जातिगत कलह-कलाधर
ज्योति जायगी गृह-विवाद-कारक-चय को हर
उन्नति-बाधक बुरे-सलूक उलूक लुकेंगे
भेद जनित अविचार-रजनिचर निकल लुकेंगे।
लोक-हितकरी-शांति-कमलिनी होगी विकसित
सब थल होगी रुचिर ज्योति-जन-समता विलसित
बह स्वतंत्रता-वायु करेगी परम प्रमोदित
होंगे मधुकर-निकर नारि-नर वृंद विनोदित
होकर नाना सुख समूह खगकुल निनाद कल
उज्ज्वल होगा जन्म-सिद्ध अधिकार धरातल
कर लाभ स्ववांछित बाल-रवि, करे देश दुख-तम कदन
देशानुराग नव राग से, आरंजित भारत-गगन

—पद्य प्रमोद, पृ० १५४

पद्य-प्रसून में भी दो चतुर्दशपदियाँ हैं—

१. सेवा — पृ० ६५

२. कुसुम-चयन —पृ० ७८

ये दोनों चतुर्दशपदियाँ भी ३ रोला और १ उल्लाला के योग से बनी हैं।

४. रूपनारायण पाण्डेय

रूपनारायण पाण्डेय—जन्मदिन : आश्विन शुक्ल १२ संवत् १९४१ वि० (१८८४ ई०), निधन तिथि : १२ जून १९५८, लखनऊ—द्विवेदी युग के सुकवि, माधुरी के सम्पादक, बँगला के अनेक ग्रन्थों के अनुवादक थे। इनकी कविताओं का संग्रह 'पराग' नाम से सं० १९८१ वि० (१९२४ ई०) में गंगा पुस्तकमाला के पैंतालीसवें पुष्प के रूप में प्रकाशित हुआ था। इसमें चार चतुर्दशपदियाँ भी हैं, जो निश्चय ही १९२४ ई० के पूर्व लिखी गई रही होंगी।

१. चाँदनी रात — पृ० ८९

२. वसंत का आगमन — पृ० ९२-९३

३. सर्प और खल — पृ० ११५

४. आँसू — पृ० ११७

चारों में शीर्षक के नीचे कोष्ठक में 'चतुर्दशपदी' लिखा हुआ है। चाँदनी रात,

सर्प और खल तथा आँसू तांटक छंद में है। दो-दो चरणों का तुक मिलता जाता है। 'वसंत का आगमन' २१ मात्राओं के अरिल्ल छंद में है। रचना अतुकांत है। उदाहरण के लिए आगे अवतरित है—

बसंत का आगमन
(चतुर्दशपदी)

छोड़ पुराने पत्र, नई पोशाक से
फूल-फलों की लिए डालियाँ हाथ में,
सफल जानकर जन्म, अदब से सब झुके,
अगवानी के लिए वृक्ष तैयार हैं।
पल्लव वंदनवार तने हैं सब तरफ।
फूली सरसों, फर्श बिछाया खेत में।
हवा हर तरफ राह साफ करती फिरे।
वंदीजन कोकिला करे जय-घोषणा
गुन-गुन-गुन गुण-गान भ्रमरगण कर रहे
महक रही मंजरी, अगर कोई मले,
ललित लता मंगलामुखी-सी नाचती।
शीत भीत हो भगा, देख जिसको, सभी
लोग काँपते, प्रकृति हुई उन्मुक्त-सी।
नृप वसंत का हुआ धरा पर आगमन।

यह रचना विवरणात्मक है, भावात्मक नहीं।

५. मैथिलीशरण गुप्त

मैथिलीशरणजी गुप्त ने भी कुछ चतुर्दशपदियाँ लिखी हैं। इनकी 'नक्षत्र-निपात' चतुर्दशपदी १९१४ ई० के आस-पास लिखी गई थी। इन्होंने १९२३ में 'अर्थ' शीर्षक एक चतुर्दशपदी लिखी थी, जो अगस्त १९२३ की 'माधुरी' के तुलसी विशेषांक में प्रकाशित हुई थी। इसकी विशेषता यह है कि इसमें आदि से अंत तक एक ही तुक है—

अर्थ

कुछ न पूछ, मैंने क्या पाया। बतला कि क्या गँवाया?
जो तेरा अनुशासन पाया, मैंने शीश नवाया।
क्या क्या कहा, स्वयं भी उसका आशय समझ न पाया।
मैं इतना ही कह सकता हूँ—जो कुछ जी में आया।
जैसी हवा चली, वैसा ही वेणु-रंध्र-रव छाया,
जैसा धक्का लगा, लहर ने वैसा ही बल खाया।

जब तक रही अर्थ की, मन में, मोह-कारिणी माया
तब तक कोई भाव भुवन का भूल न मुझको भाया
नाची कितने नाच, न जाने कठपुतली-सी काया;
मिटी न तृष्णा, मिला न जीवन, बहुतेरा मुँह बाया
अर्थ भूलकर इसीलिए अब ध्वनि से ध्यान लगाया
दूर किए सब बाजे-गाजे, ढूह ढोंग का ढाया।
हृतंत्री के तार मिलें, तो स्वर हो सरस सवाया;
और, समझ जाऊँ फिर मैं भी, क्या है मैंने गाया।

—माधुरी, वर्ष २, खण्ड १, संख्या १

६. सुमित्रानंदन पंत

सुमित्रानंदन पंत ने भी चतुर्दशपदियाँ लिखी है। इनकी 'युगवाणी' (१९३७ ई०) में ११ चतुर्दशपदियाँ हैं। चार चतुर्दशपदियाँ व्यक्ति विशेष पर हैं—

१. बापू — ग्रंथारंभ में

२. अनामिका के कवि सूर्यकांत त्रिपाठी के प्रति— पृष्ठ ९२

३-४. आचार्य द्विवेदी के प्रति — पृ० ९३, ९४

सात चतुर्दशपदियाँ युग की वाणी हैं—

१. युग उपकरण — पृ० १७

२. भूत दर्शन — पृ० ३९

३. साम्राज्यवाद — पृ० ४०

४. समाजवाद गाँधीवाद — पृ० ४१

५. संकीर्ण भौतिकवादियों के प्रति — पृ० ४२

६. पलाश— पृ० ८२

७. पलाश के प्रति — पृ० ८३

यह ग्रन्थ कवि श्री निराला जी को समर्पित है। अत: मैं निराला जी से सम्बन्धित चतुर्दशपदी यहाँ नमूने के तौर पर उद्धृत कर रहा हूँ।

अनामिका के कवि
श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी के प्रति

छंद-बंध ध्रुव तोड़, फोड़कर पर्वत कारा
अचल रूढ़ियों की, कवि, तेरी कविता धारा
मुक्त, अबाध, अमंद रजत निर्झर सी नि:सृत,
गलित, ललित आलोक राशि, चिर अकलुष अविजित
स्फटिक शिलाओं से तूने वाणी का मन्दिर
शिल्पि, बनाया ज्योति-कलश निज यश का धर चिर

शिलीभूत सौंदर्य, ज्ञान, आनंद अनश्वर
शब्द-शब्द में तेरे उज्ज्वल जड़ित हिम-शिखर
शुभ्र कल्पना की उड़ान भव-भास्वर कलरव,
हंस, अंश वाणी के तेरी प्रतिभा नित नव
जीवन के कर्दम से अमलिन मानस सरसिज,
शोभित तेरा, वरद शारदा का आसन निज
अमृत पुत्र कवि, यशःकाय तव जरा-मरण-जित
स्वयं भारती से तेरी हृतंत्री झंकृत।

ये सभी रचनाएँ रोला छंद में है। प्रत्येक दो चरणों का तुक मिलता चलता है। कवि ने इनके चतुर्दशपदी होने का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है।

३. प्रसाद के परवर्ती छह चतुर्दशपदीकार

१. किशोरी लाल गुप्त (फरवरी १९५३)

६ नवम्बर १९३७ को मैंने अपने गाँव सुधवै में पहली चतुर्दशपदी लिखी। उसे यहाँ समग्र रूप में अवतरित कर रहा हूँ।

संतरण

चंद्रिका-सिक्त रजनी हो, मलयानिल जावे कँप-कँप
नीरवता फैल रही हो, केवल तरणी का छप-छप
चंचल किरणों का नर्तन, हो लहरों की स्वर-लहरी
हम तुम हों और न कोई, हो उर की धड़कन गहरी
भावों के वेग प्रबल हों, सरिता की गति में बहते
कल्पनाशील मानस में, हों मुक्ता मंजुल तिरते
करती हों हिमकर-किरनें, शृंगार तुम्हारे मुख का
हो कुछ भी चिह्न न बाकी, उस पर विषाद का, दुख का
स्मिति के मधुरासव से ये, भर जायँ अपांग तुम्हारे
भर एक बूँद से जाएँ, रीते चख-चषक हमारे
फिर अलस भाव से पीता जाऊँ प्याले पर प्याले
मिट जाय कसक सब उर की, विस्मृति औ स्मृति के छाले
यों ही यह मेरी तरणी, बहती रे बहती जाए
जाने बहती ही बहती, उस ओर कभी लग जाए

यह चतुर्दशपदी प्रसाद जी के जीवनकाल में लिखी गई थी। इसके लिखे जाने के नौ दिन बाद प्रसाद जी का निधन १५.११.३७ को कार्तिक देवोत्थान

एकादशी को हुआ था। यह चतुर्दशपदी उसी सत्र में नागरी प्रचारिणी सभा में श्रीनारायण चतुर्वेदी के अभिनन्दन समारोह में पढ़ी गई थी और चतुर्वेदी जी द्वारा प्रशंसित भी हुई थी।

मेरे द्वारा रचित ८६ चतुर्दशपदियों का संग्रह 'श्यामा' नाम से फरवरी १९५३ में अभिनव प्रकाशन द्वारा प्रकाशित हुआ। अंतिम चतुर्दशपदी का रचनाकाल २२.११.५१ है। इसके बाद भी मैंने एकाध चतुर्दशपदियाँ लिखीं। मेरी चतुर्दशपदियों में कई प्रकार के प्रयोग हैं। पहली दूसरी चतुर्दशपदियाँ आँसू छंद में हैं। प्रत्येक दो चरणों के तुक मिलते हैं। ३-४२, ४४ चतुर्दशपदियाँ ताटंक छंद में है, दो-दो चरणों के तुक मिलते चलते हैं। कुछ चतुर्दशपदियाँ २१ मात्राओं के अतुकांत अरिल्ल छंद में हैं। कुछ अरिल्ल वाली चतुर्दशपदियों में अंग्रेजी ढंग पर तुक है। सारी चतुर्दशपदियों में एक ही एक भाव व्यक्त हुए हैं। अधिकांश रचनाएँ शृंगारी हैं। इनमें छह राष्ट्रीय भाव वाली चतुर्दशपदियाँ हैं। ये चतुर्दशपदियाँ गाँधीजी के निधन पर हैं।

२. गुलाब खंडेलवाल (१९४९)

गुलाब खंडेलवाल ने महात्मा गाँधी के निधन पर कुल ४६ चतुर्दशपदियाँ लिखीं, जो 'गाँधी भारती' नाम से १९७२ में प्रकाशित हुईं। इनका रचनाकाल १९४९ है। इसकी प्रथम चतुर्दशपदी है—

शत दशाब्दियों से पद-मर्दित, संज्ञा-हत शतखंड विभक्त
जन-जीवन विच्छिन्न विकल भारत-भू सोई थी निश्चेष्ट
चिर प्रतिरोध विहीन, कल्पनाएँ अपंख थीं, प्राण अशक्त
रूप-विरूप कृति-अकृति जैसे, फिर भी यह मी था न यथेष्ट

महानाश का ज्वार बढ़ा पश्चिम से, आत्मा की मणि को
ग्रस लेने, जो कहीं छिपी थी आवर्तों में आत्मा के
चिर विनाश का अंतिम क्षण वह, सम्मुख देख काल फणि को
क्रुद्ध गरजते, सहसा स्पंदन हुआ बंधनों में माँ के

जागी वह करुणार्द्र दृष्टि ममताकुल-नयना, स्नेहभरी
छूट गिरी असि वधिकों के कर की, निश्चेष्ट हिस्र-समुदाय
श्रद्धानत था, सुनी विश्व ने मधुर प्रेम की स्वर-लहरी
मोहन की वंशी सी, नर्तित शतफण काल फणी असहाय

कोटि-कोटि नयनों ने देखा, वेग सत्य की आँधी का
अणु अणु दुहरा उठा, अहिंसा का संदेशा गाँधी का

ताटक छंद। ३ चौपदे, १ द्विपद। चौपदों के तुक प्रत्येक चतुष्पद में अलग अलग। अन्तिम द्विपद में तुक मिलता हुआ। अंग्रेजी ढंग।

३. त्रिलोचन शास्त्री (१९५७)

त्रिलोचन शास्त्री की चतुर्दशपदियाँ 'दिगंत' नाम से जगत शंखधर वाराणसी द्वारा जनवरी १९५७ में प्रकाशित हुईं। यह 'कवि शमशेर' को समर्पित है। इसमें कुल ५७ चतुर्दशपदियाँ हैं। तुक अंग्रेजी ढंग पर हैं।

सानेट का पथ

इधर त्रिलोचन सानेट के ही पथ पर दौड़ा
सानेट, सानेट, सानेट, सानेट क्या कर डाला
यह उसने भी अजब तमाशा, मन की माला
गले डाल ली इस सॉनेट का रस्ता चौड़ा

अधिक नहीं है, कसे कसाए भाव अनूठे
ऐसे आएँ जैसे किला आगरा में जो
नग है, दिखलाता है पूरे ताजमहल को
गेय रहे, एकान्विति हो, उसने तो झूठे

ठाट-बाट बाँधे हैं, चीज किराये की है
स्पेंसर, सिडनी, शेक्सपियर, मिल्टन की वाणी
वर्डस्वर्थ, कीट्स की अनवरत प्रिय कल्याणी
स्वरधारा है, उसने नई चीज क्या दी है

सॉनेट. से मजाक भी उसने खूब किया है
जहाँ तहाँ कुछ रंग व्यंग्य का छिड़क दिया है।

इस सॉनेट में कवि ने सानेट का लक्षण, सानेट के अंग्रेजी कवियों का नामोल्लेख और इसमें अपना योगदान सब दे दिया है। इसका गठन अंग्रेजी ढंग का है।

४. हरिशंकर तिवारी 'वैदिक' (१९५८ ई०)

हरिशंकर तिवारी आजमगढ़ जनपद के निवासी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के विद्यार्थी थे। विद्यालयीय जीवन में यह मेरे परिचित थे। यह असनसोल में अध्यापक हो गए थे। इनकी चतुर्दशपदियों का संग्रह 'ज्योतिष्मतियाँ' महाविद्या आफिस, २४/३४ पाण्डेयघाट, वाराणसी द्वारा १९५८ ई० में प्रकाशित हुआ था। इसमें कुल ५१ चतुर्दशपदियाँ हैं।

एक चतुर्दशपदी लें—

इस अनंत सागर में तुमने मुझे बहुत बहकाया,
निर्दय तुमने किस अथाह में मुझे यहाँ पहुँचाया
ठहर ठहर कर लहरें आतीं, चढ़तीं और उतरतीं

तरी तनिक सी, तुमने कितना झूला इसे झुलाया
कावा काट रहीं जल की धाराएँ बीच भँवर में
अरे, उसीमें लाकर तुमने कितना मुझे घुमाया
इतना अवसर भी न मुझे कुछ तनिक देख मैं पाऊँ
आँखों के सामने दूर तक अंधकार है छाया
किसे पुकारूँ इस निर्जन में, कौन सुनेगा मेरी
उँगली डाल कान में अंबर ने भी बदन छिपाया
हहर हहर भर भीम प्रकंपन, पवन झकोरे लेता
इसने भी है आज भयंकर अपना रूप दिखाया
इस असीम में बिना तुम्हारे, कौन सहारा मेरा
मैं भी पहुँचू पार, अरे क्यों तुमने मुझे भुलाया?

इसकी तुक प्रणाली उर्दू गजल की है।

५. अनिरुद्ध सिंह 'शशि' (१९६० ई०)

अनिरुद्ध सिंह 'शशि' आजमगढ़ जनपद के महराजगंज क्षेत्र के निवासी हैं। यह पहले महाराजगंज में अध्यापक थे। फिर यह भारत के विभिन्न क्षेत्रों में अध्यापन कार्य करते रहे। इन्होंने डिब्रूगढ़ आसाम में रहते हुए १९५९-६० ई० में ७१ सॉनेट लिखे, जिन्हें इन्होंने 'सुनीत' कहा है। यह ग्रन्थ डिब्रूगढ़ से १९६० में प्रकाशित हुआ। इस पर आजमगढ़ के मेरे मित्र सुकवि विश्वनाथलाल 'शैदा' की सम्मति है। मेरे शिष्य हरिहर पाठक, एम०ए० ने इसका परिचय लिखा है। ग्रन्थ का नाम शैवलिनी है। अन्तिम चतुर्दशपदी 'शैवलिनी' यहाँ अवतरित की जा रही है—

शैवलिनी चल पड़ी कहाँ? यौवन-रस बाँधे कस के
उपकूलों में, मंद-मंद कल-कल छल-छल कुछ कहते
होगा कहाँ समर्पण तेरा? अर्घ्य पदों में किसके?
बनी उद्धता, इतराती इतनी, कगार है ढहते।
माना त्वरा बहुत है तुझको, मिलने की उस प्रिय से
जिसकी अधर-तरंगों को अर्पित कर मादक चुंबन
भुज-पाशों में डाल करेगी बातें घुल-घुल चुपके
विलयन कर देगी यौवन की हलचल, दे मन, दे तन।
धीरे धीरे बहे, अरी आतुर इतनी क्यों होती
पलभर और सम्हाल न पायेगी बोझिल यौवन को
मौजों को पल कहने दे कल-कल, देखे फिर होती
अगवानी कितनी, सागर धाएगा लेने तुझको

दूरी का है ध्यान तुझे, बीती जाती है बेला
मधुर मिलन के लिए बढ़ी जा, रीते एक न लघु पल

डिब्रूगढ़, मार्च १९५९

इस 'शैवलिनी' के सभी सुनीत उत्कृष्ट हैं, प्रेरणादायक हैं।

कवि ने ग्रंथ के 'निवेदन' में मेरा भी उल्लेख कर दिया है—

"डॉ० किशोरीलाल गुप्त अध्यक्ष हिन्दी विभाग, शिबली नेशनल कालेज, आजमगढ़ की सहृदयता को किस प्रकार सराहूँ, जिन्होंने अपने जीवन के व्यस्त अमूल्य क्षणों में भी पाण्डुलिपि को देखकर यथेष्ठ सुधार करने का कष्ट किया।"

६. मोती बी०ए० (१९६६)

श्री मोतीलाल उपाध्याय, एम०ए०, बी०टी०, बी०ए० होने के उपरान्त ही कवि रूप में प्रख्यात हो गये थे और पत्र-पत्रिकाओं में 'मोती बी०ए०' नाम से प्रकाश में आने लगे थे। फलत: उन्होंने अपने को एम०ए० होने के बाद भी 'मोती बी०ए०' ही बना रहने दिया। मोतीजी गाँव बरेजी, पत्रालय सतराँउ, जिला देवरिया के रहने वाले थे। इनका जन्म १ अगस्त, १९१९ को हुआ था। १९३९-४३ तक यह काशी में पत्रकार रहे, १९४४-५२ तक यह फिल्मों के गीतकार रहे, १९५२ से श्रीकृष्ण इण्टर कालेज बरहज में प्रवक्ता रहे। यह १९४३-४४ में काशी में बी०टी० में मेरे सहपाठी रहे।

मोती बी०ए० सुकवि थे। यह अच्छे गीतकार थे। इनके अनेक काव्य ग्रन्थ प्रकाशित हैं। इन्होंने शेक्सपियर के सानेटों का हिन्दी अनुवाद भी किया था। यह अनुवाद 'शेक्सपियर के सानेट्स का हिन्दी पद्यानुवाद' नाम से जुलाई १९६६ में प्रकाशित हुआ था। इसका प्रकाशन जवाहर प्रकाशन, बरहज, देवरिया ने किया था।

शेक्सपियर ने कुल १५४ सानेट लिखे थे। मोती बी०ए० ने इनमें से केवल १०९ सानेटों का पद्यानुवाद किया था। इनमें शेक्सपियर की ही तुक प्रणाली ग्रहीत है।

शेक्सपियर का पहला सानेट है—

From faircst creatures we desire increase,
That thereby beauty's rose might never die,
But as the riper should by time decease,
His tender heir might bear his memory;
But thou, contracted to thine own bright eyes,
Feed'st thy light's flame with self- substantial fuel.
Making a famine where abundance lies,
Thyself thy foe, to thy sweet self too cruel,
Thou that art now the world's fresh ornament
And only herald to the gaudy spring.

120450

Within thine own bud buriest thy content,
And, tender churl, mak'st waste in niggarding
Pity the world, or else this glutton be,
To eat the world's due, by the grave and thee.

इस सानेट का मोती बी०ए० कृत पद्यानुवाद यह है—

हमारी कामना सौंदर्य का संसार विकसित हो,
कहीं सौंदर्य का यह पुष्प मुरझाने नहीं पाए,
कभी परिपक्व होकर किन्तु यदि वह काल-कवलित हो
सुकोमल पीढ़ियों के ध्यान में वह रंग छा जाए,
इधर तुम हो कि अपने ही दृगों की ज्योति में खोई
लाभ निज रूप की समिधा हवन का कुंड भरती हो,
प्रचुरता हो जहाँ इतनी, वहीं दुष्काल सा कोई
स्वयं के शत्रु, अपनी ही मृदुलता नष्ट करती हो
तुम्हीं जब विश्व के हो जगमगाते दिव्य आभूषण
रँगीले मधु वसन्तों के सरस संदेशवाहक जब
स्वयं की ही कली में क्यों दफन करती स्वयं का धन
अरी नादान! ओ भोली! कृपणता ले मरेगी सब,
रहम खाओ जमाने पर, नहीं यह डूब जाएगा
अदा तुमसे, तुम्हारी कब्र से हक हो न पाएगा।

अनुवाद कैसा है, सुधी पाठक स्वयं देखें, परखें। शेक्सपियर का संबोधित व्यक्ति पुरुष है। मोती जी ने इसे कभी पुरुष बने रहने दिया है, कभी उसे स्त्री बना दिया है। इस सम्बन्ध में कुछ अधिक कहना यहाँ असंगत है।

संकलन-सूत्र

पत्रिकाएँ

१. इंदु	घ/१	मार्च १९१२	
	ख/१	फरवरी १९१३	४/१/२
	क/२	जनवरी १९१४	५/१/१
	ग/१	जनवरी १९१४	५/१/१
	ग/२	सितम्बर १९१४	५/२/३
	ख/२	अक्टूबर १९१४	५/२/४ (निर्ग्रंथ)
	ख/३	जनवरी १९१५	६/१/१
	ख/४	फरवरी १९१५	६/१/२
	ख/५	फरवरी १९१५	६/१/२
	ख/६	मार्च १९१५	६/१/३
	ख/७	मई १९१५	६/१/५ (निर्ग्रंथ)
	ख/८	अगस्त १९१५	६/२/२
	ख/९	सितम्बर १९१६	६/२/३
२. माधुरी			
	ग ७	जुलाई १९२५	४/१/१
	ग ८	अप्रैल १९२६	४/२/४
	ग ११	मार्च १९३३	११/२/४
३. सुधा	ग ९	सितम्बर १९२७	१/१/१
४. मनोरमा	ग १०	१९३७	२/२/५
५. चाँद	घ/२	१ नवम्बर १९३३	१२/१/१

ग्रन्थ

१. करुणालय	ख/१ १९२८	भारती भण्डार, काशी (द्वितीय संस्करण) (प्र०सं० इंदु में फरवरी १९१३)
२. कानन-कुसुम	ग/१, २, ३, ५	द्वितीय संस्करण १९१८
	क/१,३, ग/४	तृतीय संस्करण १९२७

३. झरना (प्रथम संस्करण, अगस्त १९१८)— ख/३-४ संयुक्त रूप में, ख ३, ख ६, ख ७, ख ८, ख ९
द्वितीय संस्करण (१९२७ ई०)—ग १, ग २, ग ५, ग ६

४. चित्राधार (प्रथम संस्करण १९१८ ई०)—ग ३, ग ५

५. तुलसी ग्रन्थावली (१९२३)— क ३

६. अजातशत्रु (द्वितीय संस्करण)—ग ७, ग ८

७. स्कंदगुप्त (१९२८ ई०)—ग ९, ग १०

८. लहर (१९३३ ई०)—ग ११, घ १

●

अनुक्रम

पृष्ठ

(क) रोला उल्लाला प्रणाली

१. नमस्कार	१
२. रमणी हृदय	२
३. महाकवि तुलसीदास	४

(ख) अतुकांत अरिल्ल प्रणाली

१. प्रार्थना	६
२. मेरी कचाई	७
३. हमारा हृदय	९
४. प्रत्याशा	१०
५. अर्चना	११
६. स्वभाव	१३
७. वसंत राका	१४
८. दर्शन	१५
९. सुख भरी नींद	१७

(ग) ताटंक प्रणाली

१. खोलो द्वार	१९
२. प्रियतम	२१
३. नहीं डरते	२२
४. पाईं बाग	२४
५. पतझड़ समीर	२६
६. गान	२७
७. दीप	२९
८. नीरद के प्रति	३०
९. अनुरोध	३२
१०. उलझन	३४
११. मनुहार	३६

(घ) गजल-प्रणाली

१. सरोज	३८
२. स्वर्ण संसार	३८

प्रसाद की चतुर्दशपदियाँ

(क)

रोला-उल्लाला प्रणाली

प्रारम्भ में रोला के १२ चरण, अंत में उल्लाला के दो दल, कुल मिलाकर १४ चरण। इस प्रणाली की ३ चतुर्दशपदियाँ हैं—नमस्कार, रमणी-हृदय, तुलसीदास। ये तीनों रचनाएँ १९१३-१४ की हैं और संभवत: एक साल के भीतर ही लिखी गईं। इनकी भाव-धारा एवं अभिव्यंजना-प्रणाली द्विवेदी-स्कूल की है। इनमें न तो आत्माभिव्यंजन हुआ है और न इनकी भाषा ही चित्रमय है। प्रत्येक दो चरण का तुक मिलता चलता है।

१. नमस्कार

यह रचना सर्वप्रथम 'कानन कुसुम' तृतीय संस्करण में प्रकाशित हुई। यह संस्करण १९२७ ई० में हुआ था। यह संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण था। इस संस्करण में १९१७ ई० तक की ही रचनाएँ हैं, उसके बाद की नहीं। नमस्कार शीर्षक के अंतर्गत इंदु जुलाई १३, अगस्त में दो छप्पय प्रकाशित है। इनकी भाव-धारा एवं रचना-प्रणाली इस चतुर्दशपदी से बहुत साम्य रखती है। इसलिए इसका भी विरचनकाल इसी समय के लगभग होना चाहिए। यह 'कानन-कुसुम' में 'मकरंद विंदु' नामक विभाग में संकलित है और शीर्षक-हीन है। उक्त दोनों छप्पयों के शीर्षक के अनुसार ही मैंने इसका भी नाम 'नमस्कार' ही रखना समीचीन समझा है। यह प्रसाद जी का दिया हुआ शीर्षक नहीं है।

इस चतुर्दशपदी में अर्थ-गंभीरत्व उल्लेख्य है। एक-एक शब्द सूत्र-सदृश है। इसमें ब्रह्म को नमस्कार किया गया है और उसकी विशेषताओं का निरूपण किया गया है। कवि के अनुसार ब्रह्म प्रथम है, 'उसके पहले और कोई, और कुछ' नहीं था। यह परम है, उससे बढ़कर कोई नहीं है। वह विश्व का आदर्श (आरसी, आईना) है, विश्व उसी में प्रतिबिम्बित हो रहा है। वह पुरातन है, प्राचीनतम है, विष्णु है। विश्व में जो कुछ है, उसी का अनुकरण है—वह मुख्य सत्य है, जिसका अनुकरण यह जगत् है। वह सनातन है। वह पूर्णोत्तम एवं आनन्दघन है। वह शक्ति-सुधा से सिंचा, शांति से सदैव हरा, वन है। वह परा प्रकृति से परे नहीं है, हिला-मिला है। सच्चे मानस में वह कमल सदृश खिला हुआ है। विश्व उसी चेतन की कला का विलास है। इसमें उसीकी सत्ता व्याप्त है। व्योम में भी उसीकी महत्ता पूर्णरूपेण प्रकीर्ण है। हमारी अनुभूतियों का वह साक्षी है। हम उसी के द्वारा अनुभव प्राप्त करते हैं। वह जड़ का चेतन है। जड़ में

जो चेतन अंश है, उसीका है। शरीर में आत्मा उसीका चेतन प्रकाश है। यह विश्व उसका शरीर है, वह परम आत्मा है और प्रभुता की पताका है। वह प्रत्येक अणु परमाणु की गति का निर्धारण करने वाला है और नित्य-नवल-संबंध-सूत्र की स्थापना करने वाला है। वह विज्ञानमय है। सम्पूर्ण ज्ञान का आधार है और अनंतकाल तक रहने वाला है। उसका न आदि है, न अंत है। वह अनादि है, अनंत है।

नमस्कार

प्रथम, परम, आदर्श विश्व का, जो कि पुरातन
अनुकरणों का मुख्टा सत्य, जो वस्तु सनातन
उत्तमता का पूर्ण रूप, आनंद भरा घन
शक्ति-सुधा से सिँचा, शांति से सदा हरा वन
परा प्रकृति से परे नहीं, जो हिला-मिला है
सन्मानस के बीच, कमल-सा नित्य खिला है
चेतन की चित्कला, विश्व में जिसकी सत्ता
जिसकी ओतप्रोत व्योम में पूर्ण महत्ता
स्वानुभूति का साक्षी है, जो जड़ का चेतन
विश्वशरीरी परमात्मा, प्रभुता का केतन
अणु-अणु में जो स्वभाव-वश गति-विधि-निर्धारक
नित्य-नवल-संबंध-सूत्र का अद्भुत कारक
जो विज्ञानाकार है, ज्ञानों का आधार है
नमस्कार सदनंत को, ऐसे बारंबार है।

—कानन कुसुम, तृतीय संस्करण

टिप्पणियाँ

आदर्श = दर्पण। पुरातन = प्राचीन, विष्णु का एक नाम। परा = बाह्य। चित्कला = कला का विलास। विश्व शरीरी = विश्व जिसका शरीर है। कारक = कर्ता, करनेवाला। सदनंत = अनंतकाल तक स्थित।

२. रमणी-हृदय

'रमणी हृदय' इंदु कला ५, खण्ड १, किरण १ जनवरी १४ में प्रकाशित हुआ। निश्चय ही इसका रचनाकाल १९१३ ई० है। इंदु के फुटनोट में 'Sonnet के ढंग पर' छपा हुआ है। इससे स्पष्ट है कि प्रसादजी ने जानबूझकर यह नया काव्य रूप ग्रहण किया था।

प्रारम्भिक कृति होने के कारण इसमें स्पष्टता अधिक है। एक ही भाव-धारा

आरम्भ से अंत तक निरन्तर चली गई है, न कहीं टूटी है और न कोई दूसरा असंबद्ध भाव वहाँ आ घुसा है। छायावाद का अभी प्रारम्भ हो रहा था। अतः द्विवेदी-युगीन व्यंजना-प्रणाली से भी यह मुक्त नहीं है। कवि ने अंत में 'धन्य धन्य रमणी हृदय' कह कर जो प्रशंसा की है, वह द्विवेदी युग का प्रभाव ही है।

इस चतुर्दशपदी में कवि ने बताया है कि रमणी-हृदय ऊपर से बालू के समान रूखा किन्तु भीतर से अत्यन्त स्नेहमय होता है। सामान्य रूप से नारियाँ शीतल होती हैं, किन्तु अवसर आने पर वे भभक भी पड़ती हैं।

रमणी-हृदय की तीन उपमाएँ कवि ने दी हैं—प्रथम चतुर्पदी में सिंधु से, द्वितीय में फल्गु से, तृतीय में ज्वालामुखी से। अंत की द्विपदी में तीनों उपमाओं का सार-संकलन है।

सिंधु वाड़वाग्नि को सहता है, अपनी शीतल लहरों से उसे शीतल नहीं कर देता, क्योंकि वह देखता है कि रमणी-हृदय अधिक अथाह है। संभवतः इसी ईर्ष्या से वह जल होकर भी ज्वाला से निरंतर लड़ता रहता है। कोई नहीं जानता नीचे क्या प्रवाहित हो रहा है। बालू में भी स्नेह की संभावना है। रमणी-हृदय फल्गू की धार सदृश ऊपर से रूखा, किन्तु भीतर से स्नेह तरल होता है।

प्रसुप्त अवस्था में ज्वालामुखी की चोटी हिमाच्छादित हो सकती है, किन्तु जाग्रत अवस्था में यह दहकते अंगारों का उद्‌गार होती है। रमणी-हृदय उन्हीं ज्वालामुखियों के समान शांत अवस्था में शीतल और क्षुब्ध दशा में दाहक होता है।

रमणी-हृदय

सिंधु कभी क्या वाडवाग्नि को यों सह लेता
कभी शीत लहरों से शीतल ही कर देता
रमणी-हृदय अथाह जो न दिखलाई पड़ता
तो क्या जल होकर ज्वाला से यों फिर लड़ता

कौन जानता है, नीचे में क्या बहता है
बालू में भी स्नेह कहो कैसे रहता है
फल्गू की है धार हृदय वामा का जैसे
रूखा ऊपर, भीतर स्नेह-सरोवर जैसे

ढकी बर्फ से शीतल ऊँची चोटी जिसकी
भीतर है क्या बात, न जानी जाती उनकी
ज्वालामुखी समान कभी जब खुल जाते हैं
भस्म किया उनको, जिनको वे पा जाते हैं।

स्वच्छ स्नेह अंतर्निहित, फल्गू-सदृश किसी समय
कभी सिंधु, ज्वालामुखी, धन्य-धन्य रमणी हृदय

—इन्दु जनवरी, १९१४

टिप्पणियाँ

ही = हृदय। फल्गू = गया (बिहार) में बालू के नीचे-नीचे बहनेवाली एक अंत:सलिला, जिसकी बालू से लोग पिंड-दान करते हैं।

३. महाकवि तुलसीदास

यह चतुर्दशपदी सर्वप्रथम १९२३ ई० में गोस्वामी तुलसीदास के त्रिंशताब्दिक श्राद्ध के अवसर पर नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित तुलसी ग्रंथावली के तृतीय भाग में संकलित हुई। फिर यह 'कानन-कुसुम' के तृतीय संस्करण (१९२७ ई०) में सम्मिलित की गई। कानन-कुसुम की भूमिका के अनुसार इसमें १९१७ ई० तक की ही रचनाएँ संकलित हैं। इसलिए यह १९१७ से पहले की रचना है।

मेरा अनुमान है कि यह १९१३-१४ ई० की कृति है और सम्भवत: नागरी प्रचारिणी सभा में मनाई गई किसी तुलसी जयंती के अवसर पर पढ़ी भी गई रही होगी। रचनाकाल के निर्णय में दो बातें सहायक हैं। पहली तो इसकी अभिव्यंजना-प्रणाली द्विवेदी-युगीन है और इस प्रणाली का प्रभाव प्रसाद जी पर १९१४ के बाद बिल्कुल ही नहीं रह गया था। इस प्रणाली की एक दूसरी रचना रमणी-हृदय जनवरी १९१४ के इंदु में प्रकाशित हुई। इसी ढर्रे पर चलने वाली यह रचना भी इसी समय के आगे पीछे कभी लिखी गई होगी, या तो अगस्त १९१३ या अगस्त १९१४ में। प्रसाद जी ने भारतेन्दु जी की दो प्रशस्तियाँ लिखी हैं—

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, प्राचीन संस्करण, भाग १७, संख्या ३, सितम्बर ३, १९१२।

२. भारतेन्दु प्रकाश—इंदु कला ३, किरण १, आश्विन १९६८ (सितम्बर १९११)। बाद में चित्राधार में संकलित।

तुलसी की यह प्रशस्ति भारतेन्दु की प्रशस्ति से प्रौढ़तर है। इसलिए इसका रचनाकाल १९१३ से पहले नहीं हो सकता।

इस रचना का सबसे बड़ा गुण है इसकी स्पष्टता, सरलता एवं अर्थ-गम्भीरता। एक होनेवाला महाकवि, एक गत महाकवि के विषय में क्या विचार रखता है, यह भी यहाँ दर्शनीय है। इस कविता में प्रशंसा का कोरा शब्दजाल नहीं है। गोस्वामी तुलसीदास जी की समस्त विशेषताओं का यहाँ उल्लेख हो गया है। यहाँ भी भाषा चित्रमय नहीं है, द्विवेदी-युगीन ही है।

इस चतुर्दशपदी में कवि ने दिखाया है कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने अखिल

विश्व में रमे हुए राम की शुभ सत्ता का अनुभव किया था और राम को मानव रूप में अंकित किया है। राम नाम का महत्व उन्होंने प्रतिपादित किया। दीन होते हुए भी चिंतामणि वितरित किया। भक्ति से संताप-शमन किया। वे प्रभु के निर्भय सेवक एवं अपने स्वामी, गोस्वामी थे। वे पूर्णरूपेण जग चुके थे। फलतः विश्व उनके लिए स्वप्नवत था। वे प्रभु की प्रभुता के प्रबल प्रचारक थे और उन्होंने राम को छोड़ किसी दूसरे की कभी भी आशा नहीं की।

महाकवि तुलसीदास

अखिल विश्व में रमा हुआ है राम हमारा
सकल चराचर जिसका क्रीड़ापूर्ण पसारा
इस शुभ सत्ता को जिसने अनुभूत किया था
मानवता को सदय राम का रूप दिया था
न्याय-निरूपण किया, रत्न से मूल्य निकाला
अंधकार-भव-बीच नाम-मणि-दीपक बाला
दीन रहा, पर चिंतामणि वितरण करता था
भक्ति-सुधा से जो संताप-हरण करता था
प्रभु का निर्भय सेवक था, स्वामी था अपना
जाग चुका था, जग था जिसके आगे सपना
प्रबल प्रचारक था जो उस प्रभु की प्रभुता का
अनुभव था सम्पूर्ण जिसे उसकी विभुता का
राम छोड़ कर और की, जिसने कभी न आस की
रामचरित-मानस-कमल, जय हो तुलसीदास की

—तुलसी ग्रंथावली (१९२३), कानन कुसुम (१९२७)

टिप्पणियाँ

२-६ मिलाएँ—

रामनाम मणि दीप धरु, जीह देहरी द्वार
तुलसी भीतर बाहिरहु, जो चाहसि उजियार

१०. जाग चुका था, जग था जिसके आगे सपना
शंकराचार्य के अनुसार 'ब्रह्म सत्यंजगन्मिथ्या'।
जब ब्रह्म को प्राप्त कर आत्मा जग जाती है, जगत् मिथ्या प्रतीत होने लगता है।

१३ मिलाएँ—

एक भरोसो, एक बल, एक आस विस्वास
एक राम घन-स्याम हित, चातक तुलसीदास

(ख)

अतुकांत अरिल्ल प्रणाली

इस प्रणाली की नव चतुर्दशपदियाँ हैं—सभी अंत्यानुप्रास-हीन हैं, सभी में अर्थानुसारी विराम प्रयोग है, सभी चरण चल हैं। इनमें २१ मात्राओं का अरिल्ल छंद प्रयुक्त हुआ है। सभी रचनाएँ आत्माभिव्यंजनपूर्ण हैं और १९१४-१६ के बीच, दो वर्षों में लिखी गई हैं। वस्तुतः इन रचनाओं से ही छायावाद का प्रारम्भ होता है। इनकी अभिव्यंजना प्रणाली सरल एवं सरस है। भाषा अत्यंत सरल, प्रायः बोलचाल की है। शायद ही कोई कठिन शब्द प्रयुक्त हुआ है। ये सभी रचनाएँ स्वस्थ श्रृंगार रस की हैं, जिन पर रहस्यवाद का आवरण पड़ा हुआ है। इनमें प्रकृति के कोमल चित्र भी सुलभ हैं। सभी में बातचीत की सी सरलता है। प्रत्येक प्रिय को ही सम्बोधित करके लिखी भी गई है, जैसे प्रिय सामने खड़ा होकर उपालंभ सुन रहा हो।

१. प्रार्थना

इंदु कला ४, खण्ड १, किरण २, फरवरी १९१३ में 'करुणालय' प्रकाशित हुआ। इसमें रोहिताश्व की एक प्रार्थना है, जो १४ पंक्तियों की है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये चौदह पंक्तियाँ जान-बूझकर रक्खी गई हैं। पहली बात तो यह है कि ये प्रबन्ध काव्य के अंतर्गत होते हुए भी स्वतंत्र हैं, मुक्तक हैं। ये पंक्तियाँ 'करुणालय' भर में श्रेष्ठतम हैं और सभी पंक्तियों की अपेक्षा अधिक अनुभूतिमयी हैं और इनमें करुणा का उद्रेक-सा हो रहा है। साथ ही इसकी अन्तिम दो पंक्तियों का तुक भी मिलता है। सारी रचना अतुकांत है। यही दो पंक्तियाँ स-तुक हैं। इसका कुछ विशेष हेतु अवश्य है। अंग्रेजी और इटालियन चतुर्दशपदियों का एक प्रमुख अंतर यह भी रहा है कि जहाँ इटालियन चतुर्दशपदियों में अन्तिम दो चरणों का तुक न मिलना चाहिए, वहाँ शेक्सपियर की अंग्रेजी वाली चतुर्दशपदियों में अवश्य मिलना चाहिए और शेष बारह चरणों की तुक प्रणाली चाहे जैसी भी हो। हो सकता है शेक्सपियर की चतुर्दशपदियों की इस विशेषता को प्रसाद जी ने इस चौदह पंक्तियों की रचना में ग्रहण किया हो। इस तुक का अतुल प्रभाव भी पड़ता है, जैसे अपनी बात को और भी प्रभावशाली बनाने के लिए कोई अपनी हथेली पीट दे, थपोड़ी बजा दे, जैसे एक नया ठप्पा और जोर से मार दे। यह तुक भाव को और भी प्रभविष्णु बनाने के लिए आया है।

इस रचना में एक ही भाव की संहिति है और इस २१ मात्राओं वाले अरिल्ल छंद में आगे चलकर प्रसाद जी ने अन्य अनेक अभिनव चतुर्दशपदियाँ प्रस्तुत की हैं। रचना

अतुकांत है। चरण चल हैं। इससे सिद्ध होता है कि हो न हो प्रसाद जी ने इसकी रचना पहले चतुर्दशपदी रूप में की हो और बाद में करुणालय में समाविष्ट कर लिया हो।

अस्तु, रचना सब प्रकार से चतुर्दशपदी के गुणों से युक्त है और हमें इसे चतुर्दशपदी मान लेने में किसी प्रकार का संकोच न होना चाहिए, यद्यपि प्रसाद जी ने इसके चतुर्दशपदी होने का कोई उल्लेख कहीं भी नहीं किया।

यह रोहिताश्व द्वारा की गई प्रार्थना है। अतएव इसका शीर्षक 'प्रार्थना' दे दिया जा रहा है।

प्रार्थना

हे हे करुणा-सिंधु, नियंता विश्व के,
हे प्रतिपालक तृण वीरुध के, सर्प के,
हाय प्रभो! क्या हम इस तेरी सृष्टि के-
नहीं, दिखाता जो मुझ पर करुणा नहीं।
हे ज्योतिष्पथगामी! क्यों इस विश्व की-
रजनी में, तारा प्रकाश देते नहीं
इस अनाथ को, जो असहाय पुकारता
पड़ा दुःख के गर्त बीच अति दीन हो।
हाय! तुम्हारी करुणा को भी क्या हुआ,
जो न दिखाती स्नेह पिता का पुत्र से
जगत्पिता, हे जगद्बंधु, हे हे प्रभो,
तुम तो हो, फिर क्यों दुख होता है हमें।
त्राहि त्राहि करुणालय, करुणासद्म में
रखो, बचा लो, विनती है पद-पद्म में

—इंदु, कला ४, खण्ड १, किरण २, माघ १९६९ में
(फरवरी १९१३) में प्रकाशित करुणालय का पंचम अंक

२. मेरी कचाई

यह चतुर्दशपदी इंदु (वर्ष ५, खण्ड २, अंक ४), अक्टूबर १९१४ में प्रकाशित हुई, किन्तु न जाने क्यों यह निर्ग्रंथ रह गई और प्रसाद के किसी भी काव्य-संग्रह में इसको स्थान नहीं मिला।

'मेरी कचाई' में कवि ने निःसंकोच होकर आत्माभिव्यक्ति की है। यह शृंगार रस की अत्यन्त स्वस्थ रचना है।

कवि कहता है—मैं स्वयं कायर हूँ, फिर तुमसे क्या कहूँ कि तुम साफ मन से खुलकर मुझसे नहीं मिलते हो। मेरा जी स्वयं कच्चा है। इसीसे मैं स्वयं सारे बन्धनों को तोड़कर तुमसे नहीं मिल पाता हूँ। प्रिय, क्या यह सम्भव नहीं, क्या ऐसा सोचना मेरे लिए अधिक है कि जब मैं सबको समझा-बुझाकर सबसे अलग होकर तुमसे मिलने के लिए तत्पर हो जाऊँ, तभी तुम स्वयं मेरे आकर्षण से खिंचे, मेरी ओर दौड़ पड़ो और मेरे गले से आ लगो, बिना अपने फहराते दुकूल को सँभालने की चिंता किए हुए। फिर भी मैं कहता हूँ कि हे प्रियतम, तुमको मेरी सारी बेबसी ज्ञात है। जब ऐसा है, फिर तुम मुझपर अनुकंपा क्यों नहीं करते? मैं तो तुम्हारा ही हूँ। तुम्हें मुझसे, स्वयं अपने से, मिलने में विनती-मात्र कर सकता हूँ। सुनना, न सुनना, तो तुम्हारा काम है।

यह हिन्दी कविता में एक नया स्वर है। लगाने वाले आसानी से इसका रहस्यवादी अर्थ भी लगा सकते हैं।

रूप की दृष्टि से यह चतुर्दशपदी अत्यंत खरी उतरती है। इसमें आक्टेव और सेस्टेट (चरणाष्ट और चरण-षट) स्पष्ट अलग देखे जा सकते हैं। अंग्रेजी की उत्तमोत्तम चतुर्दशपदियों के साथ इसे निःसंकोच रखा जा सकता है।

मेरी कचाई

हम ही कायर हैं, तुमसे फिर क्या कहें
कि नहीं तुम मिलते हो मन से स्वच्छ हो।
यही 'कचाई मेरी', वंधन तोड़कर
जो तुमसे मैं प्रियवर मिलता हूँ नहीं।
सबको समझा बुझा, सभीसे अलग हो,
जिस क्षण मिल जाने को हम प्रस्तुत रहे
अपना तुम्हीं दुकूल सम्हाल नहीं सको
दौड़ पड़ो, मेरे आकर्षण में खिँचे।
फिर भी मैं कहता हूँ, मेरी बेबसी
प्रियतम! तुमको ज्ञात सभी है, फिर कहो,
अपनी अनुकंपा से क्यों वंचित किया?
क्या अपने से तुम ही मिल सकते नहीं?
प्रियतम! तुमको कहने लायक मैं नहीं
फिर भी, विनती करने का अधिकार है।

—इंदु, अक्टूबर, १९१४

३. हमारा हृदय

सर्वप्रथम यह चर्तुदशपदी इंदु, वर्ष ६, खण्ड १, किरण १, जनवरी १९१५ में प्रकाशित हुई। निश्चय ही इसका रचनाकाल १९१४ है। फिर 'प्रत्याशा' और 'हमारा हृदय' इन दो चतुर्दशपदियों को एक में मिलाकर कुछ परिवर्तन, संशोधन, कतर-ब्योंत कर 'प्रत्याशा' नाम से यह २४ पंक्यिों में झरना के प्रथम संस्करण (१९१८ ई०) में प्रकाशित हुई। अब भी इसी संयुक्त रूप में यह झरना में उपलब्ध है। इसकी १४ पंक्तियों को ११ पंक्तियों में संक्षिप्त कर दिया गया है। प्रथम ६ पंक्तियों अब निम्नांकित तीन पंक्तियों के रूप में बदल गई हैं—

सुलभ हमारा मिलना है—कारण यही
ध्यान हमारा नहीं तुम्हें जो हो रहा।
क्योंकि तुम्हारे हम तो करतल-गत रहे।

तेरहवीं पंक्ति भी निम्नांकित रूप में परिवर्तित हो गई है—

बनी सुधा, रख दी है हीरक-पात्र में।

इंदु में प्रकाशित रूप में ही इसे यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। यह झरना की उक्त कविता का उत्तरार्द्ध है।

'मेरी कचाई' के ही समान इसमें भी आत्माभिव्यंजन उल्लेखनीय है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से इसका अध्ययन अधिक श्रेयस्कर है।

कवि कहता है—प्रिय, तुम मेरी उपेक्षा करते हो, इसका जो कारण है, वह मनोवैज्ञानिक है। जो सुलभ होता है, हम उसकी चिंता नहीं करते; जो दुर्लभ एवं दुष्प्राप्य होता है, उसको प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहते हैं। मेरा मिलना सुलभ इसलिए है क्योंकि मैं तुमसे मन से मिलता हूँ— लाचारी है। परिणाम यह हुआ है कि तुम मेरी ओर ध्यान भी नहीं देते और दूसरों की ओर ललचाई आँखों से देखा करते हो।

प्रिय, मेरी परीक्षा मत लो, होड़ न लगाओ, मुझे उत्तेजित न करो। मैं तो इतना ही चाहता हूँ, जहाँ औरों की संवर्धना हो, वहाँ मेरी उपेक्षा न हो। जहाँ औरों को चाहते हो, वहाँ मुझे भी अपने प्यार का एक कण दे दो। मैं यह कभी नहीं कहता कि औरों को मत चाहो, केवल मुझे चाहो।

मुझे मलयानिल की मंद मंथर गति से अग्रसर होने दो। मेरे हृदय का प्याला प्रेम से परिपूर्ण है, अत: यह हिलाने योग्य नहीं है। जहाँ यह जरा भी हिला, छलक जायगा। मेरा हृदय अत्यंत कोमल है, यह चंद्र-किरण, हिम बिन्दु एवं मधुर मकरंद से बना हुआ है तथा हीरे के पात्र में रखा हुआ है। प्रियतम, मुझे उत्तेजित मत करो।

'हाँ हाँ औरों की भी हो संवर्धना' पंक्ति स्पष्ट ही अनेक आत्माओं एवं एक ब्रह्म की ओर संकेत कर इसे रहस्यवादी बना देती है, क्योंकि साधारण जीव यह कभी भी नहीं चाहता कि उसका प्रिय उसे छोड़कर और भी किसी की संवर्धना करे।

हमारा हृदय

सुलभ हमारा मिलना है। हम भी स्वयं
मिलते हैं मन से तुमसे। कारण यही,
ध्यान हमारा नहीं तुम्हें होता कभी।
प्रियतम! जो कुछ भी तुमको दुष्प्राप्य है,
उसकी ओर तुम्हारी लालच बढ़ रही,
क्योंकि तुम्हारे हमतो कर-तल-गत रहे।
हाँ-हाँ, औरों की भी हो संवर्धना,
किन्तु न मेरी करो परीक्षा, प्राणधन!
होड़ लगाओ नहीं, न दो उत्तेजना।
चलने दो मलयानिल की शुचि चाल से
हृदय हमारा नहीं हिलाने योग्य है।
चंद्रकिरण, हिम-विन्दु, मधुर मकरंद से
बना, धरा है यह हीरे के पात्र में।
मत छलकाओ इसे, प्रेम-परिपूर्ण है।

—इंदु, जनवरी, १९१५

४. प्रत्याशा

यह चतुर्दशपदी सर्वप्रथम इंदु, वर्ष ६, खण्ड १, किरण २ तदनुसार फरवरी १९१५ में प्रकाशित हुई, फिर झरना के प्रथम संस्करण में संकलित हुई। इसके साथ 'हमारा हृदय' भी सम्मिलित कर दिया गया था। इन चौदह पंक्तियों में से केवल तेरह गृहीत हुई हैं। इसकी छठीं पंक्ति निकाल दी गई है। कुछ छोटे-मोटे संशोधन भी कर दिये गए हैं। यह चतुर्दशपदी यहाँ संशोधित रूप में ही प्रस्तुत की जा रही है। उदाहरण के लिए पहले तृतीय पंक्ति का रूप था—

'बैठे हैं प्रत्याशा में हम प्राणधन'

पहले इसकी नवीं पंक्ति, दसवीं थी और दसवीं पंक्ति नवीं। 'खिड़की' के स्थान पर 'खिरकी' का प्रयोग हुआ था। यह झरना की उक्त कविता का पूर्वार्द्ध है।

यदि प्राचीन पदावली का सहारा लिया जाय, तो कहा जा सकता है कि यह एक वासकसज्जा का चित्र है, जो शय्या लगाकर अपने प्रिय की प्रतीक्षा में आतुर हो रही है। पर वासकसज्जा की भावना एकान्त लौकिक होती है, इस रचना की भावना रहस्यवादी है।

मंद पवन बह रहा है, अँधेरी रात है, थका-थकाया, आशा लगाए निर्जन घर में आँखें बिछाए, एकांत में अकेला बैठा हूँ। विरह-बाँसुरी बजने लगी, किन्तु उसका स्वर हृदय के स्वर से मिल नहीं सका। तुम कहते हो कि मेरी यह उत्कंठा कपट है। प्रिय, ऐसा न कहो। मैं निश्चय ही, सत्य भाव से, इस आधी खुली हुई खिड़की की राह से उस धुँधले तारे को देख रहा हूँ, जो आकाश के घनांधकार में दिखाई दे रहा है। (बिरही लोग तो तारे गिन गिनकर ही रात बिताते हैं.)। उसकी ओर टकटकी लगाए, तुम्हारे विरह की घड़ियाँ काट रहा हूँ। प्रिय, तुम देख रहे हो कि मेरे पास अन्य अनेक जन बैठे हैं, इसलिए तुम्हें मेरे पास आने में संकोच हो रहा है। झिझको मत, बेखटके चले आजो, तुम्हारे आते ही वे सब स्वयं चले जायँगे। (तुम्हारे आते ही वे सारे कलुष जिन्होंने मुझे चारों ओर से घेर रखा है, स्वयं दूर हो जायेंगे।) प्रेमी का घिरे हुए प्रिय के पास जाने में झिझकना भी एकान्त मनोवैज्ञानिक है।

प्रत्याशा

मंद पवन बह रहा, अँधेरी रात है।
आज अकेले निर्जन गृह में क्लांत हो
स्थित हूँ, प्रत्याशा से मैं तो प्राणधन!
शिथिल विपंची मिली विरह-संगीत से,
बजने लगी, उदास पहाड़ी रागिनी,
बँधा नहीं स्वर किंतु हृदय में शुद्ध हो।
कहते हो—"उत्कंठा तेरी कपट है।"
नहीं नहीं, उस धुँधले तारे को अभी
आधी खुली हुई खिड़की की राह से
जीवन-धन, मैं देख रहा हूँ सत्य ही,
दिखलाई पड़ता है जो तम व्योम में।
हिचको मत निस्संग न देख मुझे अभी।
तुमको आते देख, स्वयं हट जायँगे।
वे सब; आओ, मत संकोच करो यहाँ।

—इंदु, फरवरी, १९१५

५. अर्चना

यह चतुर्दशपदी सर्वप्रथम 'इंदु' ६, १/२, फरवरी १९१५ में प्रकाशित हुई। फिर 'झरना' के प्रथम संस्करण में इसे स्थान मिला (१९१८ ई०); यहाँ इसकी २२ पंक्तियाँ

हैं। यहाँ अवतरित 'अर्चना', 'झरना' में संकलित कविता की अंतिम १४ पंक्तियाँ हैं। अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल प्रसाद जी ने इसमें भी परिवर्तन, परिवर्धन, संशोधन, काट-छाँट किया है। इसकी पाँचवीं पंक्ति पहले तीसरी पंक्ति थी। पहले नवीं पंक्ति इस प्रकार थी—

मन भाया न हुआ, फिर क्या यह व्यर्थ है।

ग्यारहवीं पंक्ति का पूर्व रूप यह था—

हो जायेंगे जब निराश हम, फिर कभी

इनके अतिरिक्त दो-चार और भी छोटे-मोटे परिवर्तन हुए हैं। यहाँ यह 'झरना' के संशोधित रूप में ही दी जा रही है।

इस चतुर्दशपदी में अर्चना की सारी सामग्री प्रस्तुत है—मन का मन्दिर है, कामना-कुसुमों की माला है, प्राण का प्रदीप है, अश्रु-सलिल अभिषेक करता है।

प्रिय, मन-मन्दिर में मैंने तुम्हारी अर्चना की, पर तुमने उसकी उपेक्षा की और उसे स्वीकार नहीं किया। आज तुमसे उपेक्षित मेरी वह अर्चना स्वयं मेरा उपहास कर रही है। स्निग्ध कामना-कुसुम की मालिका तुम्हें पहनाने के लिए, मैंने विरचित की थी, पर वह भी तुम्हारे गले न लग पाई और अब लज्जित हो रही है। प्राण-प्रदीप भी अब वह आलोक नहीं कर पा रहा है। इस अँधेरे में तुम्हारा रूप कैसे देखूँ? मैंने अपने अश्रु-सलित से तुम्हारा अभिषेक किया, पर तुम तृप्त नहीं हुए। सारे प्रयास व्यर्थ सिद्ध हुए। प्रिय, क्या यह उचित है? इतने निष्ठुर न बनो। प्रसन्न हो जाओ। यदि तुम इसी प्रकार अपनी निष्ठुरता पर दृढ़ बने रहोगे, तो फल यह होगा कि मैं परम निराश हो जाऊँगा। हो सकता है मेरी निराश-दशा देख तुम्हारा हृदय कभी कोमल हो जाय। क्या तुम अपने ही पर क्षुब्ध नहीं हो जाओगे। यह सोच लो। फिर जैसा भी हो, करो, तुम्हें छूट है।

प्रिय को अपने पक्ष में लाने का कितना कोमल प्रयास है।

अर्चना

मन-मंदिर में नाथ हमारी अर्चना
हुई उपेक्षित तुमसे, हँसती है हमें।
स्निग्ध-कामना-कुसुम-रचित यह मालिका
लज्जित है; प्रियतम के गले लगी नहीं।
प्रियतम, ऐसा ही क्या तुमको उचित था।
प्राण-प्रदीप न करता है आलोक वह
जिसमें वांछित रूप तुम्हारा देख लूँ।
जीवन-धन, क्या अश्रु-सलिल-अभिषेक भी
तृप्त नहीं कर सका तुम्हें? सब व्यर्थ है।

बनो न इतने निर्दय, सदा प्रसन्न हो।
हो जायेगा जब निराश मन, फिर कभी
ध्यान हमारा आवेगा, होगी दया।
तो क्या क्षुब्ध न होगे तुम? यह सोच लो।
फिर जैसा मन में आवे, वैसा करो

—इंदु, फरवरी, १९१५

६. स्वभाव

'स्वभाव' सर्वप्रथम 'इन्दु' मार्च १९१५, वर्ष ६, खण्ड १, अंक ३ में प्रकाशित हुआ; फिर १९१८ में 'झरना' प्रथम संस्करण में। अब भी यह झरना में उपलब्ध है। इंदु में तो यह चतुर्दशपदी रूप में प्रकाशित हुआ था। किन्तु अब इसमें १३वीं, १४वीं पंक्तियाँ ये हैं—

चंचल हृदय हमारा केवल खेल था
मेरी जीवन-मरण-समस्या हो गई

और इसमें १४ के स्थान पर १६ पंक्तियाँ हो गई हैं।

मैं तो तुमसे सदैव दूर हटा रहता था, तुमसे मिलना भी नहीं चाहता था। तुमसे मेरी कभी की जान पहचान भी नहीं थी; मेरे हृदय में मिलने का आवेग भी न था; परन्तु तुमने स्वयं मुझसे अपने को परिचित कराया—अपना अतुल सौन्दर्य दिखाकर मेरे सरल हृदय को अपनी ओर मिला लिया। यह तुमसे इस प्रकार मिल गया, जिस प्रकार दूध पानी से मिलता है। अब ऐसी क्या बात हो गई है, जो इस मिश्रण को कपट की खटाई डालकर फाड़ देना चाहते हो? मैं मेघ-सदृश जल-पूर्ण था। तुमने अपने रूप की कुछ ऐसी हवा चलाई कि मैं बरस गया। अपना सारा प्रेम-जल देकर मैं शून्य-हृदय, रिक्त, हो गया हूँ। परन्तु तुम नेक भी न पुलकित हुए। उलटे बालू के समान सब कुछ सोख लिया। क्या तुमसे यही आशा थी? मैं जिस बात से डरता था, अंत में वही हुई। तुमने अपना स्वभाव प्रकट कर दिया।

'मेरी कचाई' के समान ही इसकी भी भाषा अत्यन्त सरल है। छायावादी काव्य में इस रचना के द्वारा प्रतीक का प्रयोग प्रारम्भ होता है। प्रसाद ने तो मेघ का जो अप्रस्तुत विधान किया है, यह अत्यन्त उपयुक्त एवं सर्वग्राह्य है। अन्तिम पंक्तियों में 'कभी न कभी' दो टुकड़ों में बँट गया है, बिखर गया है। यह सुन्दर नहीं हुआ है। इसका अच्छा रूप यों होता—'शायद निज स्वभाव प्रकटित कर दो कभी।'

स्वभाव

दूर हटे रहते थे हम तो आप ही
क्यों परिचित हो गए? न थे जब चाहते

हम मिलना तुमसे। न हृदय में वेग था,
स्वयं दिखाकर सुंदर हृदय मिला लिया
दूध और पानी सा, अब फिर क्या हुआ
देकर जो कि खटाई फाड़ा चाहते?
भरा हुआ था नवल मेघ जल-बिन्दु से,
ऐसा पवन चलाया, क्यों बरसा दिया?
शून्य-हृदय हो गया जलद, सब प्रेम-जल
देकर तुम्हें, न तुम कुछ भी पुलकित हुए।
मरु-धरणी-सम तुमने सब शोषित किया।
क्या आशा थी आशा-कानन को यही?
डरते थे इसको, होते थे संकुचित
'कभी न प्रकटित तुम स्वभाव कर दो कभी'

—इंदु, मार्च, १९१५

७. वसंत-राका

'वसंत-राका' इन्दु, वर्ष ६, खण्ड १, अंक ७, मई १९१५ में सर्वप्रथम प्रकाशित हुई। इसके पश्चात १९१८ में यह झरना के प्रथम संस्करण में संकलित हुई। परन्तु जाने किस कारण से झरना के द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण में इसे स्थान नहीं दिया गया और अब यह प्रसाद की निग्रंथ रचनाओं में से है।

इस रचना में रहस्यवाद का पुट पिछली रचनाओं की अपेक्षा अधिक है। इसमें प्रकृति का अत्यन्त सुन्दर चित्र अंकित हुआ है।

अरण्य का हृदय खिला हुआ है। वसंत का पवन, इस कानन के कोमल किसलय-पुंज में, आज उलझा-उलझा घूम रहा है। कुमुद-वंधु चन्द्रमा, अपनी उज्ज्वल किरणों की ज्योति का अन्वेषक आलोक डालकर सुमन-कुंज की विमला रम्यस्थली को देख रहा है। यह कानन-प्रदेश उज्ज्वल जीवन की छाया-सा भासमान होता है। जब स्वर्ग की सुन्दरियों ने हमारे इस शुभ्र मिलन को, प्रेम से अपने को विस्मृत कर देने की दशा में देखा, उन्होंने हमारे ऊपर अपने झीने पट डाल दिए। उनका यह झीना पट ही सुन्दर चन्द्रिका है। परन्तु हे प्रिय, तुम्हारी कमनीय कांति इस झीने पट में किस प्रकार छिप सकती है, वह तो अवगुंठन बनकर तुम्हारी आकर्षण-शक्ति को और भी बढ़ा रही है।

इस रचना में ज्योत्स्ना को सुर-सुंदरियों का वसन कहा गया है—यह एक अभिनव कल्पना है। प्रकृति का ऐसा रम्य चित्र द्विवेदी-युग में दुर्लभ है। इस रचना के

द्वारा प्रसाद का प्रकृति के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण परिलक्षित हो रहा है। आलोक का 'अन्वेषक' विशेषण एक नवीन अन्वेषण है और एक नई अभिव्यंजना-प्रणाली के प्रारम्भ की सूचना देता है। खुले संभोग का दर्शन वर्जित है। इसीलिए जब महर्षि पराशर ने धीवर-कुमारी मत्स्यगंधा सत्यवती से बीच नदी में नौकारोहण करते समय संभोग किया, तब उन्होंने योग-वल से कुहासे की अद्‌भुत सृष्टि कर ली थी। इसी प्रकार सुर-सुंदरियों की दृष्टि जब आत्मा और परमात्मा के इस अभूतपूर्व मिलन पर पड़ी, उन्होंने दोनों को अपने सुन्दर चन्द्रिका-पट से ढक लेना ही समीचीन समझा।

'अपने को विस्तृत होने की प्रेम में' के स्थान पर 'अपने को विस्मृत होने की प्रेम में' कहीं अधिक सुन्दर होता। निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता कि 'विस्तृत' छापे की भूल है, अथवा प्रसाद जी ने इसे 'विस्तृत' रूप में ही लिखा था।

वसंत राका

खिला हुआ है हृदयारण्य; वसंत का
आज पवन है उलझा-उलझा घूमता
इस कानन के कोमल किसलय-पुंज में
कुमुद-वन्धु उज्ज्वल किरणों की ज्योति का
अन्वेषक आलोक डालकर देखता
सुमन-कुंज की विमला रम्यस्थली को,
उज्ज्वल जीवन-छाया सी जो है बनी।
आज हमारे और तुम्हारे मिलन की;
अपने को विस्तृत होने की प्रेम में
स्वर्ग सुंदरी गण ने जब देखी दशा,
डाल दिया अपने पट (सुन्दर चन्द्रिका)।
तव कमनीय कांति क्या छिपने की कभी
ऐसे झीने पट में, वह तो और भी
परदा बनकर तुमको इंगित कर रही।

—इंदु, मई, १९१५

८. दर्शन

इंदु, वर्ष ६, खण्ड २, अंक २, अगस्त १९१५ में 'दर्शन' का प्रथम प्रकाशन हुआ। फिर १९१८ में 'झरना' के प्रथम संस्करण में। अब भी यह झरना में उपलब्ध है, किन्तु अब इसमें १६ पंक्तियाँ हैं, प्रारम्भ में निम्नांकित दो पंक्तियाँ और जोड़ दी गई हैं—

जीवन-नाव अँधेरे अंधड़ में चली
अद्भुत परिवर्तन यह कैसा हो गया।

'वसंत राका' के ही समान यह रचना भी रहस्यवादी है। इसमें भी प्रकृति का अपूर्व रूप अंकित हुआ है। प्रसाद काशीवासी थे और चन्द्रिका-स्नात धवल रजनी में गंगा के वक्षस्थल पर बजड़ों में उन्होंने अनेक ग्रीष्म-विहार किये थे। उस जल-विहार की सुखद-स्मृति इस चतुर्दशपदी की मूल प्रेरणा है, जिसे कवि ने अलौकिकता के अपूर्व अवगुंठन से और भी अपूर्व बना दिया है।

निर्मल जल पर सुधा-भरी चंद्रिका फैल रही है। उस पर कवि की नाव अपने आप बिछल पड़ी। ('बिछल पड़ी' प्रयोग अद्‌भुत है, वैसा ही जैसे रूप चुआ पड़ता है,' लुनाई छलकी पड़ती है।')

वंशी की स्वर-लहरी नीरव व्योम में गूँज रही है। (प्रसाद को वंशी की यह स्वर-लहरी परम प्रिय थी। 'प्रलय की छाया में वे लिखते हैं—

दूरागत वंशीरव
गूँजता था धीवरों की छोटी छोटी नावों से

कामायनी में भी वे कहते हैं—

स्वर का मधु निस्वन रंध्रों में
जैसे कुछ दूर बजे बंशी—
—काम २५)

पवन परिमल-पूरित है और जल-लहरियों के साथ वह क्रीड़ा कर रहा है। प्रकृति व्योम में चन्द्रमा का भरा प्याला दिखाकर बहका रही है।

चन्द्रगुप्त के एक गीत में प्रसाद जी कहते हैं—

बिछल रही है चाँदनी, छवि मतवाली रात
कहती कंपित अधर से, बहकाने की बात

'कामना' के एक और गीत में वे लिखते हैं—

मधुप पी रहे मधुर मधु, फूलों का सानंद
तारा मद्यप मंडली, चषक भरा यह चंद
सजा आपानक निराला

संभवत: प्रकृति के इस प्रलोभन से नदी अपने को नहीं बचा पाती और उसी ओर बह चलती है जिधर चंद्र का वह निराला लबालब भरा प्याला है।

(यहाँ तक तो प्रसाद जी इसी लोक में है। आगे वे रहस्यवाद के स्वर पर चढ़ रहे हैं।)

उस ऊँचे महल की खिड़की दूर दिखाई देती है। उसे देखते ही नौका दूनी गति से उसी ओर अग्रसर हो जाती है और रोकने से भी नहीं रुकती। किन्तु किसी की मुख-छवि की घनी किरणें कहीं रजत-रज्जु सी आकर नौकारोही से लिपट गईं। कितना आश्चर्य है बीच नदी में ही नाव किनारे लग गई।

(विरोधाभासमयी यह उक्ति अत्यन्त सुन्दर है)

नौका अपनी मंजिल पर पहुँच गई। उस मोहन-मुख का दर्शन होने लगा।

(मृत्यु होने के पहले ही, इस जीवन-सरिता के अवसान होने के पहले ही, आत्मा ने परमात्मा का साक्षात्कार प्राप्त कर लिया।)

दर्शन

निर्मल जल पर सुधा-भरी है चंद्रिका
बिछल पड़ी मेरी छोटी-सी नाव भी।
वंशी की स्वर लहरी नीरव व्योम में
गूँज रही है, परिमल-पूरित पवन भी
खेल रहा है, जल-लहरी के संग में।
प्रकृति भरा प्याला दिखलाकर व्योम में
बहलाती है, और नदी उस ओर ही
बहती है। खिड़की उस ऊँचे महल की
दूर दिखाई देती है, अब क्यों रुके
नौका मेरी द्विगुणित गति से चल पड़ी।
किन्तु किसीके मुख की छवि-किरणें घनी
रजत-रज्जु सी लिपटीं नौका से वहीं।
बीच नदी में नाव किनारे लग गई।
उस मोहन-मुख का दर्शन होने लगा।

—इंदु, अगस्त, १९१५

९. सुख भरी नींद

'सुख भरी नींद' का प्रथम प्रकाशन 'इंदु', वर्ष ६, खण्ड २, अंक २, सितम्बर १९१६ में हुआ। शीर्षक के नीचे, कोष्टक में, 'चतुर्दशपदी' भी छपा था। फिर यह अत्यधिक परिवर्तन परिवर्द्धन के साथ 'झरना' के प्रथम संस्करण (१९१८) में 'स्वप्नलोक' नाम से प्रकाशित हुई। अब इसमें १६ पंक्तियाँ हैं। परिवर्तन की अधिकता के कारण यहाँ इस रचना को इंदु के प्रकाशित रूप में ही प्रस्तुत किया जा रहा है। कुछ विशेष परिवर्तनों का संकेत इस प्रकार किया जा सकता है।

(१) सर्वप्रथम शीर्षक ही परिवर्तित कर दिया गया है—'सुख भरी नींद' से 'स्वप्नलोक' में।

(२) दूसरे इसमें १६ पंक्तियाँ करके इसका चतुर्दशपदीत्व छीन लिया गया है। अब इसकी प्रारम्भिक तीन पंक्तियाँ नवीन हैं—

स्वप्नलोक में आज जागरण के समय
प्रत्याशा की उत्कंठा में पूर्ण था
हृदय हमारा, फूल रहा था कुसुम सा।

(३) पंक्तियाँ भी ऊपर नीचे कर दी गई हैं।

(४) शब्दों का परिवर्तन तो बहुत हुआ है।

तुम्हारे आने में देर थी। इसलिए फूलों की माला नहीं गूँथी। भय था फूल मुरझा जायँगे। फलतः कलियों की माला बनाई, इस आशा में कि जब तक तुम आओगे, वे खिल जायँगी। परन्तु जब मैं तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा था, तब शीतल मन्द सुगन्ध पवन के झोंकों ने मुझे सुला दिया और मेरे अनजान में ही वे सब की सब कलियाँ खिल उठीं। उधर मैं तुम्हारे मिलन का सुख-स्वप्न देख रहा था। किन्तु माला में, हृदय के पास ही, एक कली ऐसी भी थी जो किन्हीं कारणों से न खिल सकी और गड़ने लगी। जब आँखें खुलीं, तब देखा कि नभ में चंद्रालोक से रंजित बादल छा गए हैं और तुम उन पर बैठ, पवन के सहारे मेरी ओर अग्रसर हो रहे हो। मैं तुम्हारी उस सम्पूर्ण छवि को देख मुग्ध हो उठा और तुम्हें अपने अंक में ले लेने के लिए अतीव आकुल हो उठा; किन्तु तुमने सुरभित सुमनों की झोली मेरी ओर फेंक मारी और मैं निद्राभिमूत हो उठा।

सुख भरी नींद

देर तुम्हारे आने में थी इसलिए
कलियों की माला विरचित की थी कि हाँ
जब तक तुम आओगे, ये खिल जायँगी।
सुखद शीत मारुत ने हमें सुला दिया,
ये सब खिलने लगीं, न हमको ज्ञात था।
मधुर स्वप्न तेरा हम तो थे देखते।
किन्तु कली थी एक हृदय के पास ही
माला में, वह गड़ने लगी, न खिल सकी।
आँख खुली, देखा तो चंद्रालोक से
रंजित कोमल बादल नभ में छा गए,
जिस पर बैठे पवन सहारे तुम चले।
हम व्याकुल हो उठे कि तुमको अंक में
ले लूँ, तुमने झोरी सुरमित सुमन की
फेंकी, मस्त हुईं आँखें फिर नींद में।

—इंदु, सितम्बर १९१६

टिप्पणी— छठें चरण में तेरा के स्थान पर तुम्हारा और तेरहवें चरण में 'ले लूँ' के स्थान पर 'ले लें' अपेक्षित है।

(ग)

ताटंक प्रणाली

ताटंक के प्रत्येक चरण में १६, १५ के विराम से ३१ यात्राएँ होती हैं। अन्तिम दो अक्षर गुरु लघु होते हैं। कभी-कभी अंत के लघु को छोड़ भी दिया जाता है। तब इसमें १६, १४ के विराम से केवल ३० मात्राएँ रह जाती हैं। प्रत्येक दो चरणों का तुक मिलता चलता है।

१९१३ से लेकर १९३३ तक, इस प्रणाली की ११ चतुर्दशपदियों की रचना, प्रसाद जी ने की—

१. खोलो द्वार, २. प्रियतम, ३. नहीं डरते, ४. पाईं बाग, ५. पतझड़ समीर, ६. गान, ७. दीप, ८. नीरद के प्रति, ९. अनुरोध, १०. उलझन, ११. मनुहार।

इनमें प्रसाद जी का विकासक्रम स्पष्ट देखा जा सकता है। साथ ही इनमें विषय-विविधता भी है। भाषा की चित्रमयता, प्रतीक-विधान सभी कुछ यहाँ है।

१. खोलो द्वार

यह चतुर्दशपदी, इंदु वर्ष ५, खण्ड १, किरण १, जनवरी १९१४ में सर्वप्रथम प्रकाशित हुई। फिर १९१८ में, चित्राधार प्रथम संस्करण के अंतर्गत 'कानन-कुसुम' के द्वितीय संस्करण में इसे स्थान मिला। तदनंतर झरना के द्वितीय संस्करण में यह संकलित हुई। अब यह कानन-कुसुम एवं झरना दोनों में उपलब्ध है। प्रसाद ने यत्र-तत्र संशोधन भी कर दिया है। इंदु में इसके फुटनोट में 'Sonnet के ढंग पर' छपा था। इससे स्पष्ट है कि प्रसाद जी जान-बूझकर एक नए काव्य रूप का प्रयोग प्रारम्भ कर रहे थे। राय कृष्णदासजी ने इसके जोड़ में एक कविता 'खुला द्वार' लिखी थी, जो पहले 'इंदु' में प्रकाशित, फिर उनके काव्य संग्रह 'भावुक' में संकलित हुई।

'खोलो द्वार' १९१३ की रचना है। इसमें छायावादी कविता के सभी गुण उपस्थित हैं। आचार्य शुक्ल ने इसे झरना के प्रथम संस्करण में न पा, इसका दर्शन उसके द्वितीय संस्करण में पा, इसे १९२५-२६ की रचना मान लेने की भूल की है। देखें शुक्ल जी का इतिहास।

यह रचना रहस्यवाद का प्रबल स्वर लिए हुए है। जीवन-रजनी की निराशांधकार घड़ियों से ऊबकर, अपने शोध-कार्य में असफल होकर, आत्मा परमात्मा से अपना द्वार खोल देने का आकुल अनुनय करती हुई कह रही है—

रात भर भींगने के कारण कमलिनी की सारी पंखड़ियाँ शिशिर-कणों से लदी हुई हैं; पश्चिम का मारुत शीतलता का भार लेकर चल रहा है—हवा अत्यन्त शीतल है; रजनी रानी की तारक-पुष्प-ग्रथित वह कबरी भी भींगी जा रही है। हे सूर्य, किरण रूपी हाथों से छूकर इन्हें कष्ट-मुक्त करो।

मेरे पैरों में धूल लगी हुई है। पैर काँटों से छलनी हो गए हैं। अपार कष्ट है। किसी तरह भूला भटका तुम्हारे दरवाजे पर आ पहुँचा हूँ। तुम इतना न डरो कि मेरे धूलि-धूलरित चरणों से तुम्हारा द्वार मलिन हो जायगा। मैंने अपने नेत्र-जल से इन्हें पूर्ण प्रक्षालित कर लिया है।

प्रिय, मेरे धूलि लगे पैरों से इतनी घृणा मत करो—मैं स्वयं धूलि-कण हूँ और मेरे समान अनेक धूलि-कण तुम्हारे चरणों की निरंतर आराधना करते ही रहते हैं। उनसे तुम्हारे इन निर्मल चरणों को अवकाश संभव नहीं। मैं तुम्हारे चरणों से लिपटकर ही परम-पद प्राप्त कर लूँगा। जब एक बार, तुम्हारे द्वार पर आ ही गया हूँ, फिर इसे छोड़कर वापस जाना सम्भव नहीं।

प्रियतम, अपना द्वार खोल दो। तुम्हारा दर्शन पा मेरी भी जीवन-रजनी का अपार दुःख मिट जाय और सुप्रभात हो।

खोलो द्वार

शिशिर कणों से लदी हुई कमली के भींगे हैं सब तार
चलता है पश्चिम का मारुत, लेकर शीतलता का भार
भींग रहा है रजनी का वह, सुन्दर कोमल कबरी-भार
अरुण-किरण-सम-कर से छू लो, खोलो प्रियतम, खोलो द्वार
धूल लगी है, पद काँटों से बिंधा हुआ, है दुःख अपार
किसी तरह से भूला भटका, आ पहुँचा हूँ तेरे द्वार
डरो न इतना, धूलि-धूसरित होगा नहीं तुम्हारा द्वार
धो डाले हैं इनको प्रियवर, इन आँखों से आँसू ढार
मेरे धूलि लगे पैरों से, इतना करो न घृणा प्रकाश
मेरे ऐसे धूलि-कणों से, कब तेरे पद को अवकाश
पैरों ही से लिपटा-लिपटा, कर लूँगा निज पद निर्धार
अब तो छोड़ नहीं सकता हूँ, पाकर प्राप्य तुम्हारा द्वार
सुप्रभात मेरा भी होवे, इस रजनी का दुःख अपार
मिट जावे, जो तुमको देखूँ, खोलो प्रियतम, खोलो द्वार

—इंदु, जनवरी १९१४, कानन कुसुम, द्वितीय संस्करण,
झरना, द्वितीय संस्करण

Sonnet के ढंग पर।

२. प्रियतम

सर्वप्रथम यह कविता इंदु, वर्ष ५, खण्ड २, अंक ३ में सितम्बर १९१४ में प्रकाशित हुई। फिर यह कानन कुसुम के द्वितीय संस्करण (१९१८) में संकलित हुई। अब यह कानन-कुसुम और झरना में उपलब्ध है। यह झरना के प्रथम संस्करण में नहीं संकलित हो सकी थी।

इस चतुर्दशपदी में कवि ने एक अत्यन्त कोमल भावना की अभिव्यक्ति की है—

प्रिय, क्या यही तुम्हारा न्याय है कि दूसरों को तो प्यार करो और जो तुम्हें प्यार करता है, उसका विस्मरण कर दो? तुम्हारे इस व्यवहार को लिखते हुए लेखनी और कागज दोनों काँप रहे हैं। तुम दूसरों को भी प्रेम करते हो, मुझे इसका दुःख नहीं है; किन्तु तुम ही मेरे एक मात्र अवलंब हो, मुझे क्यों भूलते हो? औरों के साथ-साथ मुझ पर भी प्रेम-दृष्टि डाला करो। मैंने स्वयं अपने प्रति निष्ठुर होकर तुम्हें आत्म-समर्पण कर दिया, किन्तु तुमने प्रेम करने को कौन कहे, मुझ पर करुणा की, वह भी केवल क्षण भर के लिए। अब से भी अच्छा है, जितना भी बदनाम होना था, मैं हो लिया, अब और अधिक बदनाम न करो। तुम मेरे साथ क्रीड़ा कर रहे थे। मैं तुम्हारी क्रीड़ा का उपकरण मात्र था। तुमसे मेरा अपना कोई काम नहीं सिद्ध होने का, यह मैंने पूर्णतः समझ लिया। तुमने मेरे साथ जो क्रीड़ा की है, उन्हींकी स्मृतियों को लिए हुए मैं अपना सारा जीवन बिता दूँगा। अब मुझे छोड़ दो। मुझको मिलने का अधिक प्रलोभन मत दो। मैं तुमसे मुछ माँगता तो हूँ नहीं, मैं इतना ही तो चाहता हूँ कि तुम मुझे स्वीकार कर लो। जब तक रक्खो, मुझे आँखों में रक्खो और किसी दूसरी ओर मत ढुलको। मेरा मन बहुत कोमल है। देखो, तुम्हारी बरौनियों की कोर उसे कहीं लग न जाय। हे प्रिय, मेरी एक मात्र कामना है मैं तुम्हारी आँखों में पुतली बनकर चमकता रहूँ।

इस चतुर्दशपदी में, प्रारम्भिक कृति होने के कारण, भावों का संतुलन ठीक नहीं हो पाया है। जहाँ तृतीय चरण में कहा है—

औरों के प्रति प्रेम तुम्हारा, इसका मुझको दुःख नहीं।

वहीं बारहवें चरण में कवि कहता है—

रक्खो जब तक आँखों में, फिर और ढार पर नहीं ढरो।

यहाँ वह कामना करता है—

पुतली बनकर रहें चमकते प्रियतम, हम दृग में तेरे

बहुत बाद में आगे चलकर प्रौढ़ प्रसाद ने इस कामना के विपरीत यह चाहा है—

मेरी आँखों की पुतली में, तू बनकर प्राण समा जा रे।

— लहर

चतुर्थ चरण में 'भूल न जाव', भाषा की दृष्टि से चिन्त्य है। 'जाव' के स्थान पर 'जाओ' होना चाहिए।

प्रियतम

क्यों जीवनधन, ऐसा ही है न्याय तुम्हारा क्या सर्वत्र?
लिखते हुए लेखनी हिलती, कँपता जाता है यह पत्र!
औरों के प्रति प्रेम तुम्हारा, इसका मुझको दु:ख नहीं
जिसके तुम हो एक सहारा, उसको भूल न जाव कहीं।
निर्दय होकर अपने प्रति, अपने को तुमको सौंप दिया
प्रेम नहीं, करुणा करने को, क्षण-भर तुमने समय दिया
अबसे भी तो अच्छा है, अब और न मुझे करो बदनाम
क्रीड़ा तो हो चुकी तुम्हारी, मेरा क्या होता है काम?
स्मृति को लिए हुए अंतर में, जीवन कर देंगे नि:शेष
छोड़ो अब भी, दिखलाओ मत, मिल जाने का लोभ विशेष
कुछ भी मत दो, अपना ही जो मुझे बना लो, यही करो
रक्खो जब तक आँखों में, फिर और ढार पर नहीं ढरो
कोर बरौनी का न लगे हाँ, इस कोमल मन को मेरे
पुतली बनकर रहें चमकते, प्रियतम, हम दृग में तेरे

—इंदु, ५/२/३, सितम्बर १९१४, कानन -कुसुम द्वितीय सं०, झरना, द्वितीय सं०

टिप्पणियाँ

३-४ मिलाओ—

हाँ, हाँ, औरों को भी हो संवर्धना
किन्तु न मेरी करो परीक्षा, प्राणधन।

३. नहीं डरते

सर्वप्रथम, १९१८ में, 'नहीं डरते' चित्राधार प्रथम संस्करण के अंतर्गत (कानन-कुसुम, द्वितीय संस्करण में) प्रकाशित हुआ। अब वह कानन कुसुम में उपलब्ध है। अत: यह १९१७ के पहले की रचना है। इसका रचनाकाल १९१४ और १९१७ के बीच कभी होना चाहिए। भाषा और अभिव्यंजना की दृष्टि से यह 'खोलो द्वार' और 'प्रियतम' से निकृष्ट है। अतएव यह भी १९१४ की ही रचना होनी चाहिए।

प्रिय, मैंने क्या कह दिया, क्यों रुष्ट हो गए हो, बतलाओ भी तो, ठहरो, जरा मेरी बात तो सुन लो, बिगड़ो मत, अरे मन-मीत, क्या तुम रूठ गये हो? मेरी नहीं सुनोगे? अच्छा, मत सुनो, बड़ी अच्छी बात है।

मुझे अभी तक अनेक तथाकथित सुहृद, सहृदय, सज्जन, मधुमुख मिल चुके हैं। सभी को उलाहना दे चुका था, एक तुम्हीं मेरे उलाहने से अभी तक बचे हुए थे। आज वह भी अवसर मिल गया है और अब जी भर तुम्हारे गुणानुवाद करूँगा। कहो, देखो सच-सच कहना, मैंने तुमसे कब यह विनती नहीं की थी कि मुझे चाहो और मेरे खौलते हुए हृदय रूपी सरोवर में आकर स्नान करो।

मेरी इस प्रार्थना के होते हुए भी तुमने मुझको कब चाहा, देखो झूठ मत बोलना। मैं तुम्हारी क्रीड़ा का उपकरण मात्र था, इसीलिए केवल ऊपरी तौर पर तुम मुझसे मिले रहते थे, तुम मुझे अपना समझते हो और मेरे ऊपर मर रहे हो, मुझे अत्यधिक चाहते हो, मेरी चाह में व्याकुल हो, और मेरे लिए ठंडी साँसे भरते हो, यह सब ढोंग मात्र है। मैं इसे भली-भाँति समझ गया हूँ, इसलिए मुझ पर मरने का ढोंग कर ठंडी आहें अब और अधिक न भरो।

प्रेम भले ही कृत्रिम हो, किन्तु उसका अनादर नहीं करना चाहिए। इसी सिद्धान्त पर सब समझ-बूझकर ही मैं तुमसे निरन्तर प्रेम निभाता रहा। तुम ऐसा न समझो कि तुम मुझे धोखा देने में सफल हो गए। मैं समझ-बूझकर भी निडर होकर तुमसे प्रेम करता रहा हूँ। इसमें कोई धोखा नहीं।

'प्रियतम' और 'नहीं डरते' इन दोनों में कवि को क्षोभ है कि प्रिय उसे अपनी क्रीड़ा का साधन मात्र समझता है, सच्चा प्रेम नहीं करता।

छठें चरण की तुक 'तेरे' दसवें करण का तुक 'रहो' सदोष हैं। भाषा-व्याकरण की दृष्टि से इनके स्थान पर क्रमशः 'तुम्हारे' और 'रहे' होना चाहिए।

नहीं डरते

क्या हमने कह दिया, हुए क्यों रुष्ट, हमें बतलाओ भी
ठहरो, सुन लो बात हमारी, तनक न जाओ, आओ भी
रूठ गए तुम, नहीं सुनोगे, अच्छा, अच्छी बात हुई
सुहृद, सदय, सज्जन, मधुमुख थे, मुझको अब तक मिले कई।
सबको था दे चुका, बचे थे उलाहने से तुम मेरे
यह भी अवसर मिला, कहूँगा हृदय खोल कर गुण तेरे।
कहो न कब बिनती थी मेरी, सच कहना कि 'मुझे चाहो'।
मेरे खौल रहे हृत्सर में, तुम भी आकर अवगाहो।
फिर भी, कब चाहा था तुमने हमको, यह तो सत्य कहो,
हम विनोद की सामग्री थे, केवल इससे मिले रहो
तुम अपने पर मरते हो, तुम कभी न इसका गर्व करो
कि हम चाह में व्याकुल हैं, यह गर्म साँस अब नहीं भरो।

मिथ्या ही हो, किन्तु प्रेम का प्रत्याख्यान नहीं करते
धोखा क्या है, समझ चुके थे, फिर भी किया, नहीं डरते

कानन कुसुम, द्वितीय सं०, चित्राधार

टिप्पणी

तनकना = तिनगना, रूठना
मधुमुख = केवल मुख से मीठे, अंतर से कपटी, जैसे मोर
प्रत्याख्यान = अस्वीकरण, खण्डन, निराकरण।

४. पाईं बाग

'पाईं बाग' सर्वप्रथम 'चित्राधार' प्रथम संस्करण (१९१८ ई०) के अन्तर्गत 'कानन-कुसुम' द्वितीय संस्करण में प्रकाशित हुआ। फिर वहाँ से हटाकर 'झरना' में उसके द्वितीय संस्करण में, सम्मिलित किया गया। इस प्रकार यह १९१७ के पहले की रचना है। कानन कुसुम तृतीय संस्करण में इसे स्थान नहीं मिला है, सम्भवत: यह १९१७ के बाद की रचना है। फलत: इसका रचनाकाल १९१७-१८ है।

पहले यह रचना चतुर्दशपदी रूप में प्रकाशित हुई थी। पर अब इसमें केवल १२ चरण हैं। पहले की निम्नांकित नवीं-दसवीं पंक्तियाँ अब इसमें नहीं है—

अपना जीवन न्योछावर कर, प्रेम लगे करने तुमसे
किस आशा पर हृदय लगावें, कहो न प्यारे तुम हमसे।

वसंत ने सरसों के पीले कागज पर आज्ञा दी कि सम्पूर्ण तरु-राजि अपने पत्तों को गिरा दे। यह आज्ञा पाते ही वृक्षों ने सुखाकर अपने सारे पत्ते गिरा दिए। अब वे नए कोमल किसलय की आशा में तथा परिमल-पूरित-पवन कंठ से लगने की अभिलाषा में खड़े राह देख रहे हैं।

अतल-सिंधु में, जीवन की बाजी लगाकर, योंही व्यर्थ डुबकी लगाने को भला कौन राजी होगा? यदि मनोवांछित मुक्ता अपना कंठ सजाने को नहीं मिले, तो केवल मर जाने के लिए कोई अपना गला यों ही नहीं फँसा देगा।

मरजीवा मोती की आशा से अथाह समुद्र में गोते लगाता है, पर हे मेरे प्रिय, मुझसे यह तो बताओ मैं किस आशा पर तुमसे हृदय लगाऊँ? क्या मलयानिल की तरह कभी तुम मेरे गले से आकर लग जाओगे? क्या मेरे गुलाब की यह उजड़ी क्यारी पुन: विकसित हो जायगी? क्या काँटों का कुछ भी ध्यान न कर, चहलकदमी करने के लिए कभी तुम मेरे मन को अपना पाईं बाग बना लोगे?

रूप की दृष्टि से यह चतुर्दशपदी अत्यन्त खरी उतरती है। इसमें अष्टपदी और षटपदी की अंतर-रेखा स्पष्ट है। अष्टपदी में भी स्पष्ट दो चतुष्पदियाँ हैं, जिनमें एक-

एक समानांतर भाव चल रहे हैं, जिनके द्वारा षटपदी का भाव निखार पर आ जाता है।

शीर्षक अद्‌भुत तो है, पर पारदर्शी नहीं। पाईं बाग गृह संलग्न टहलने का लघु-उद्यान है। यहाँ रूपक अलंकार है। यह मन का पाईं बाग है, कोई सचमुच का गृह उद्यान नहीं।

पाईं बाग

सरसों के पीले कागज पर, वसन्त की आज्ञा पाकर
गिरा दिए वृक्षों ने सारे पत्ते अपने सुखलाकर
खड़े देखते राह नए कोमल किसलय की आशा में
परिमल पूरित पवन कंठ से, लगने की अभिलाषा में
अतल सिंधु में लगा लगाकर, जीवन की बेड़ी बाजी
व्यर्थ लगाने को डुब्बी यो होगा कौन भला राजी
मिले नहीं जो वांछित मुक्ता, अपना कंठ सजाने को
अपना गला कौन देगा यों बस केवल मर जाने को
अपना यौवन न्यौछावर कर, प्रेम लगे करने तुमसे
किस आशा पर हृदय लगावें, कहो न प्यारे तुम हमसे
मलयानिल की तरह कभी आ, गले लगोगे तुम मेरे
फिर विकसेगी उजड़ी क्यारी, क्या गुलाब की यह मेरे
कभी चहलकदमी करने को, काँटों का कुछ ध्यान न कर
अपना पाईं बाग बना लोगे, प्रिय इस मन को आकर

—चित्राधार प्रथम, झरना द्वितीय

टिप्पणी

१-४ मिलाइए—

ऋतु वसंत जाचक भया, हरषि दिया द्रुम पात
तातें नव पल्लव भया, दिया दूर नहिं जात

२. सुखलाकर—यह प्रयोग चिन्त्य है। सुखाकर होना चाहिए।

५. जीवन की बेड़ी—प्रसाद जी की एक कहानी है 'बेड़ी'। यहाँ भी वे जीवन को बेड़ी मानते हैं। पर यहाँ यह प्रयोग चिन्त्य है। यदि जीवन बेड़ी ही है, तो उसकी बाजी लगाने से किसी को क्यों एतराज हो? कोई इस बाजी को हमसे जीतकर इस बेड़ी को ले ले, तो हर्ज ही क्या है? संभवतः प्रसाद जी जीवन की बेड़ी बाजी में अनुप्रास के चक्कर में आ गए हैं।

६. डुब्बी—गोता, डुब्बी के स्थान पर डुबकी का प्रयोग होता है। उुब्बी तो पनडुब्बी, पनडुब्बा के साथ ही देखी जाती है, स्वतंत्र रूप से नहीं।

५. पतझड़ समीर

यह चतुर्दशपदी प्रथमतः माधुरी, वर्ष ४, खण्ड २, संख्या ४ में अप्रैल १९२६ में प्रकाशित हुई, फिर 'अजातशत्रु' के द्वितीय संस्करण में सम्मिलित हुई। यह अजातशत्रु के अंतिम दृश्य के प्रारम्भ में नेपथ्य से गाई गई है। यह आने वाले दृश्य के लिए वातावरण तैयार करने में पूर्ण समर्थ है। अभी तक अजातशत्रु ने अपने पिता बिंबिसार के साथ अनुचित एवं निष्ठुर व्यवहार ही किया था, यहाँ तक कि उसे बंदीगृह में डाल दिया था। अब जब उसे पुत्र उत्पन्न हो गया, उसने समझा कि पिता की ममता कैसी होती है। फलतः इस दृश्य में वह विंबिसार से क्षमा माँगता है, परन्तु विंबिसार सुख के इस भार को नहीं सँभाल पाता, वह लड़खड़ा कर गिर पड़ता है, जो उसकी मृत्यु का सूचक है, यद्यपि इस अवसर पर गौतम बुद्ध स्वयं उसे अभय करते हैं। विंबिसार के जीवन के प्रतिबिम्ब स्वरूप यह कविता है।

संध्या समय जब दिवाकर अस्त होने लगता है, तब वसन्त-बाला के अंचल की *घातक सुरभि से* मतवाला बना हुआ मलयानिल चल पड़ता है। उषा-नदी के उस पार के तट पर विचरण करता हुआ, मधुकर से साथ-साथ रस चूसने की संधि कर, पत्तों को अभिनव फूलों का प्रलोभन देता हुआ, वह मलयानिल कोमल किसलयों के रस को चूस लेता है। जो पत्ते अभी तक डाल में लगे हुए थे, जो फूलों के लिए आवरण का कार्य कर रहे थे, जो बनबाला के झूलों के अवयव थे, उनके शृंगार थे, उन्हीं पत्तों को इस मलयानिल ने आशा देकर गले से लगा लिया। वे भी प्रलोभन में कुछ ऐसे फँसे कि मलयानिल के गले से लगने से अपने को रोक नहीं सके। मलयानिल ने पहले तो उन्हें हिलाया, सहलाया, फुसलाया, सहलाया, फिर उन्हें झकझोर कर जिधर चाहा, उधर उड़ा दिया। बेचारे ये पत्ते इस झकझोर को न सँभाल सके और वसन्त के भालों से घायल होकर पहले तो वे कुम्हला गए, फिर सूख गए, तत्पश्चात ऐंठ गए और अंत में अपने डंठल से अलग होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। जब क्रूर मलयानिल ने उनका वध कर ही दिया, तब नव पल्लव का सृजन उनके लिए व्यर्थ है। वे अब अपने अतीत से एकदम दूर हो गए हैं। वे इन फूलों की हँसी का आस्वाद कैसे ले सकते हैं। मरा घोड़ा घास नहीं खाता। इन सूखे पत्तों की नस-नस में मलयानिल की निर्दयता का इतिहास लिखा हुआ है। अब भले ही वह मलयानिल उनके अवशेषों के चारों ओर आहें भरता हुआ चक्कर काटता फिरे, उन सूखे पत्तों को इससे क्या लाभ?

'नीरद' के प्रति के समान वह चतुर्दशपदी भी नाटक के अन्तर्गत अपनी सार्थकता प्रमाणित कर रही है। सूखे पत्ते विंबिसार के प्रतीक हैं और मलयानिल अजातशत्रु का। अजात का सद्व्यवहार भी अब विंबिसार को नहीं बचा सकता, जैसे मलयानिल का आहें भरना सूखी पत्ती को पुनः हरा बनकर उसी डाल से नहीं जोड़ सकता। भले ही वहाँ नए पत्ते निकल आवें, यह दूसरी बात है।

पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने कविता कौमुदी में इस रचना को इसी शीर्षक से दिया है। हरिऔधजी ने भी अपने 'चारु चयन' संग्रह में इस कविता को स्थान दिया है।

पतझड़ समीर

चल वसंत–बाला–अंचल से, किस घातक सौरभ से मस्त
आतीं मलयानिल की लहरें, जब दिनकर होता है अस्त
मधुकर से कर संधि, बिचरकर उषा–नदी के तट उस पार
चूसा रस पत्तों पत्तों से, फूलों का दे लोभ अपार
लगे रहे जो अभी डाल से, बने आवरण फूलों के
अवयव थे, शृंगार रहे जो, बनबाला के झूलों के
आशा देकर गले लगाया, रुके न फिर वे रोके से
उन्हें हिलाया बहलाया भी, किधर उड़ाया झोंके से
कुम्हलाए, सूखे, ऐंठे, फिर गिरे, अलग हो वृंतों से
वे निरीह मर्माहत होकर, कुसुमाकर के कुंतों से
नव पल्लव का सृजन तुच्छ है, किया बात ने वध जब क्रूर
कौन फूल सा हँसना देखे? वे अतीत से भी अब दूर
लिखा हुआ उनकी नस–नस में, इस निर्दयता का इतिहास
तू अब आह बनी घूमेगी, उनके अवशेषों के पास

—माधुरी वर्ष ४, खण्ड २, संख्या ४, अप्रैल १९२६; अजातशत्रु, संस्करण दो

टिप्पणी

वृंत = ढेपुनी। कुंत = भाला। वात = हवा।

६. गान

(देश के गौरवशाली युवकों को आशीः)

यह चतुर्दशपदी सर्वप्रथम 'कानन कुसुम' तृतीय संस्करण में प्रकाशित हुई। इसलिए यह १९१७ के पहले की रचना है। इसका शीर्षक 'अनुपयुक्त' है। इससे इसके विषय का बोध नहीं होता। इसमें कवि ने किसी भी उन्नतशील देश के नवयुवकों के सात्विक गुणों का उल्लेख करते हुए उनके चिरंजीवी होने का आशीष दिया है। भारतीय युवकों में ये सभी सात्विक गुण वांछनीय हैं। इस चतुर्दशपदी का अच्छा शीर्षक 'देश के गौरवशाली युवक' हो सकता है।

जिस देश के नवयुवक अपनी जन्मभूमि को ही जननी जानते हों, सारी वसुन्धरा

५. पतझड़ समीर

यह चतुर्दशपदी प्रथमतः माधुरी, वर्ष ४, खण्ड २, संख्या ४ में अप्रैल १९२६ में प्रकाशित हुई, फिर 'अजातशत्रु' के द्वितीय संस्करण में सम्मिलित हुई। यह अजातशत्रु के अंतिम दृश्य के प्रारम्भ में नेपथ्य से गाई गई है। यह आने वाले दृश्य के लिए वातावरण तैयार करने में पूर्ण समर्थ है। अभी तक अजातशत्रु ने अपने पिता बिंबिसार के साथ अनुचित एवं निष्ठुर व्यवहार ही किया था, यहाँ तक कि उसे बंदीगृह में डाल दिया था। अब जब उसे पुत्र उत्पन्न हो गया, उसने समझा कि पिता की ममता कैसी होती है। फलतः इस दृश्य में वह विंबिसार से क्षमा माँगता है, परन्तु विंबिसार सुख के इस भार को नहीं सँभाल पाता, वह लड़खड़ा कर गिर पड़ता है, जो उसकी मृत्यु का सूचक है, यद्यपि इस अवसर पर गौतम बुद्ध स्वयं उसे अभय करते हैं। विंबिसार के जीवन के प्रतिबिम्ब स्वरूप यह कविता है।

संध्या समय जब दिवाकर अस्त होने लगता है, तब वसन्त-बाला के अंचल की घातक सुरभि से मतवाला बना हुआ मलयानिल चल पड़ता है। उषा-नदी के उस पार के तट पर विचरण करता हुआ, मधुकर से साथ-साथ रस चूसने की संधि कर, पत्तों को अभिनव फूलों का प्रलोभन देता हुआ, वह मलयानिल कोमल किसलयों के रस को चूस लेता है। जो पत्ते अभी तक डाल में लगे हुए थे, जो फूलों के लिए आवरण का कार्य कर रहे थे, जो बनबाला के झूलों के अवयव थे, उनके शृंगार थे, उन्हीं पत्तों को इस मलयानिल ने आशा देकर गले से लगा लिया। वे भी प्रलोभन में कुछ ऐसे फँसे कि मलयानिल के गले से लगने से अपने को रोक नहीं सके। मलयानिल ने पहले तो उन्हें हिलाया, सहलाया, फुसलाया, सहलाया, फिर उन्हें झकझोर कर जिधर चाहा, उधर उड़ा दिया। बेचारे ये पत्ते इस झकझोर को न सँभाल सके और वसन्त के भालों से घायल होकर पहले तो वे कुम्हला गए, फिर सूख गए, तत्पश्चात ऐंठ गए और अंत में अपने डंठल से अलग होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। जब क्रूर मलयानिल ने उनका वध कर ही दिया, तब नव पल्लव का सृजन उनके लिए व्यर्थ है। वे अब अपने अतीत से एकदम दूर हो गए हैं। वे इन फूलों की हँसी का आस्वाद कैसे ले सकते हैं। मरा घोड़ा घास नहीं खाता। इन सूखे पत्तों की नस-नस में मलयानिल की निर्दयता का इतिहास लिखा हुआ है। अब भले ही वह मलयानिल उनके अवशेषों के चारों ओर आहें भरता हुआ चक्कर काटता फिरे, उन सूखे पत्तों को इससे क्या लाभ?

'नीरद' के प्रति के समान वह चतुर्दशपदी भी नाटक के अन्तर्गत अपनी सार्थकता प्रमाणित कर रही है। सूखे पत्ते विंबिसार के प्रतीक हैं और मलयानिल अजातशत्रु का। अजात का सद्व्यवहार भी अब विंबिसार को नहीं बचा सकता, जैसे मलयानिल का आहें भरना सूखी पत्ती को पुनः हरा बनकर उसी डाल से नहीं जोड़ सकता। भले ही वहाँ नए पत्ते निकल आवें, यह दूसरी बात है।

पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने कविता कौमुदी में इस रचना को इसी शीर्षक से दिया है। हरिऔधजी ने भी अपने 'चारु चयन' संग्रह में इस कविता को स्थान दिया है।

पतझड़ समीर

चल वसंत–बाला–अंचल से, किस घातक सौरभ से मस्त
आतीं मलयानिल की लहरें, जब दिनकर होता है अस्त
मधुकर से कर संधि, बिचरकर उषा–नदी के तट उस पार
चूसा रस पत्तों पत्तों से, फूलों का दे लोभ अपार
लगे रहे जो अभी डाल से, बने आवरण फूलों के
अवयव थे, शृंगार रहे जो, बनबाला के झूलों के
आशा देकर गले लगाया, रुके न फिर वे रोके से
उन्हें हिलाया बहलाया भी, किधर उड़ाया झोंके से
कुम्हलाए, सूखे, ऐंठे, फिर गिरे, अलग हो वृंतों से
वे निरीह मर्माहत होकर, कुसुमाकर के कुंतों से
नव पल्लव का सृजन तुच्छ है, किया बात ने वध जब क्रूर
कौन फूल सा हँसना देखे? वे अतीत से भी अब दूर
लिखा हुआ उनकी नस–नस में, इस निर्दयता का इतिहास
तू अब आह बनी घूमेगी, उनके अवशेषों के पास

—माधुरी वर्ष ४, खण्ड २, संख्या ४, अप्रैल १९२६; अजातशत्रु, संस्करण दो

टिप्पणी

वृंत = ढेपुनी। कुंत = भाला। वात = हवा।

६. गान

(देश के गौरवशाली युवकों को आशीः)

यह चतुर्दशपदी सर्वप्रथम 'कानन कुसुम' तृतीय संस्करण में प्रकाशित हुई। इसलिए यह १९१७ के पहले की रचना है। इसका शीर्षक 'अनुपयुक्त' है। इससे इसके विषय का बोध नहीं होता। इसमें कवि ने किसी भी उन्नतशील देश के नवयुवकों के सात्विक गुणों का उल्लेख करते हुए उनके चिरंजीवी होने का आशीष दिया है। भारतीय युवकों में ये सभी सात्विक गुण वांछनीय हैं। इस चतुर्दशपदी का अच्छा शीर्षक 'देश के गौरवशाली युवक' हो सकता है।

जिस देश के नवयुवक अपनी जन्मभूमि को ही जननी जानते हों, सारी वसुन्धरा

को पुण्यक्षेत्र काशी समझते हों; सारे विश्व को स्वदेश जानते हों; मानव मात्र को अपना भाई समझते हों, परम अविनाशी को ही अपना पिता जानते हों, दंभ जिनके धर्म के चरण-रेणु को भी न छू पाता हो, धर्म अपने सशक्त करों से जिनकी रखवाली करता हो; जिनका मस्तक शीतल, रक्त गर्म, सिर नीचा, कद ऊँचा हो; जिनके करुणा कटाक्ष पर कमला मुस्कुराया करती हो; श्री सम्पन्न होने पर भी जो सहजभाव से सभी से सदैव मिलने को तत्पर हों, दूसरों के आलिंगन के लिए जिनकी छाती सर्वदा किवाड़ की तरह खुली रहे, जिनका मानस शांत हो और जिनका सरोज-हृदय सदैव खिल जाने के लिए तत्पर हो, जो अछूतों के लिए पुरी के जगन्नाथ हों, कृषकों के हल हों, दुखियों की आँखों के आँसू हों, मजदूरों की कल हों, जिनके जीवन में प्रेम भरा हो और जिनकी कृतियों में जीवन भरा हो, जिनका संकल्प सत्य हो, साथ ही दृढ़ भी हो, जो जागर्ति काल में सोते न रहें, ऐसे ही नवयुवक आगे चलकर अघनाशी महापुरुष बनते हैं और देश को धन-धान्य से परिपूर्ण करते हैं। परमात्मा ऐसे नवयुवकों को चिरंजीव करें।

इस चतुर्दशपदी के द्वारा प्रसाद जी ने चतुर्दशपदियों का विषय-विस्तार किया है। वे प्रेम के वृत्त से बाहर आ गए हैं।

इस चतुर्दशपदी की प्रेरणा-भूमि रवि बाबू की गीतांजलि का पैंतीसवां गीत प्रतीत होता है—

'जहाँ मन भय से परे है और मस्तक ऊँचा है
जहाँ बुद्धि स्वतंत्र है,
जहाँ संसार संकीर्ण घरेलू दीवारों में विभक्त नहीं किया गया है,
जहाँ सत्य का स्रोत प्रवाहित है,
जहाँ अथक पुरुषार्थ पूर्णता की ओर बढ़ता है,
जहाँ विवेक की स्वच्छ धारा पुरानी रूढ़ियों की भयानक शुष्क भूमि में अपना मार्ग नहीं लुप्त करती,
वहाँ मस्तिष्क तुम्हारे द्वारा सदा विस्तृत विचारों और कर्मों की ओर अग्रसर होता है।
प्रभु! स्वतंत्रता के उस दिव्य कर्मांक में मेरा देश जागरित हो।'

—गीतांजलि, गीत ३५, अनुवाद-प्रकाशक श्री गाँधी ग्रंथागार
सी० ७/१४०, सेनपुरा, बनारस

गान

जननी जिसकी जन्मभूमि हो, वसुंधरा ही काशी हो
विश्व स्वदेश, भ्रातृ मानव हो, पिता परम अविनाशी हो
दंभ न छूए चरण-रेणु वह, धर्म नित्य यौवन-शाली
सदा सशक्त करों से जिसकी करता रहता रखवाली

शीतल मस्तक, गर्म रक्त, नीचा सिर हो, ऊँचा कर भी
हँसती हो कमला जिसके करुणा-कटाक्ष में, तिस पर भी,
खुले किवाड़ सदृश हो छाती, सबसे ही मिल जाने को
मानस शांत, सरोज-हृदय हो सुरभि सहित खिल जाने को
जो अछूत का जगन्नाथ हो, कृषक-करों का दृढ़ हल हो
दुखिया की आँखों का आँसू और मजूरों की कल हो
प्रेम भरा हो जीवन में, हो जीवन जिसकी कृतियों में
अचल सत्य संकल्प रहे, न रहे सोता जागृतियों में
ऐसे युवक चिरंजीवी हों, देश बना सुखराशी हो
और इसलिए आगे वे ही महापुरुष अविनाशी हों।

—कानन-कुसुम, तृतीय सं०

७. दीप

यह चतुर्दशपदी 'झरना' के द्वितीय संस्करण में १९२७ ई० में सर्वप्रथम प्रकाशित हुई। इसलिए यह १९१८-२७ के बीच किसी समय की रचना है। इसमें प्रकृति का सुन्दर चित्र दर्शनीय है।

मलिन संध्या विश्व पर अपना अधिकार जमाने के लिए नभ-मण्डल से उतरी आ रही थी। अंधकार अवसाद की कालिमा बरसा रहा था। पहाड़ की सँकरी घाटी में पानी का एक सोता चुपचाप शांत भाव से बहता जा रहा था। उसमें न तो कल-कल नाद था और न वह अपने मन की बात ही कह रहा था। जिस प्रकार गंगा को पवित्र मानकर रमणियाँ उनकी धार में दीप-दान करती हैं, उसी प्रकार न जाने किस अज्ञात सुन्दरी ने अपने आँचल की ओट छिपाकर, इसे जाह्नवी के समान आदर देकर, यह लघु दीप जला कर, इसकी धार में प्रवाहित कर दिया। यह लघु प्रदीप इस प्रस्रोत के वक्षःस्थल पर जलता हुआ, इसकी लहरों में बहता चला जायेगा। लहरें इसकी सुनहरी आभा से खिल उठेंगी और मुग्ध होकर नृत्य मग्न हो जायँगी। प्रस्रोत के किनारे के वृक्षों की छाया इस प्रदीप के चरण स्पर्श करेगी। सोए हुए पक्षियों के पूर्व कलरव की नीरव स्मृति उस प्रदीप को अपना गान सुनाएगी। प्रदीप निर्जन में प्रकृति के नग्न सौंदर्य को देख उस पर मुग्ध हो जायगा और सम्पूर्ण विश्व पर समान रूप से प्रकाश डालेगा और यह प्रदीप मधुर मुसकान के समान संकेत बताने के लिए सर्वदा जलता जायगा।

यदि सांकेतिक भाषा को छोड़ दिया जाय तो इसका सार होगा—मेरा जीवन अंधकारमय हो रहा था। विषाद की मलिन संध्या अपनी छाया उस पर डाल रही थी। संकटों के पहाड़ चारों ओर से घेरे हुए थे। किसी प्रकार का चैन न था। उदासीनता का

प्रबल वातावरण था। उसी समय न जाने किसने प्रेम-प्रदीप प्रदान कर मेरा सम्मान बढ़ा दिया। यह प्रेम मेरे जीवन का प्रकाश है। इसकी सहायता से मैं अपना सारा जीवन सानंद बिता जाऊँगा। सारे कष्ट उस प्रेम के चरणों में आकर नत-मस्तक हो जाते हैं। इस प्रेम ने मेरे हृदय को विस्तृत बना दिया है और मैं सारी वसुधा को कुटुंबवत देखने लगा हूँ।

दीप

धूसर संध्या चली आ रही थी, अधिकार जमाने को
अंधकार अवसाद कालिमा, लिए रहा बरसाने को
गिरि-संकट में जीवन सोता, मन मारे चुप बहता था
कल-कल नाद नहीं था उसमें, मन की बात न कहता था
इसे जाह्नवी-सा आदर दे, किसने भेंट चढ़ाया है
अंचल से सस्नेह बचाकर, छोटा दीप जलाया है
जला करेगा वक्षस्थल पर, बहा करेगा लहरी में
नाचेंगी अनुरक्त बीचियाँ, रंजित प्रभा सुनहरी में
तट-तरु की छाया फिर, उसका पैर चूमने आवेगी
सुप्त खगों की नीरव स्मृति, क्या उसको गान सुनावेगी
देख नग्न सौन्दर्य प्रकृति का, निर्जन में अनुरागी हो
निज प्रकाश डालेगा जिसमें, अखिल विश्व सम भागी हो
किसी माधुरी स्मित सा होकर, यह संकेत बताने को
जला करेगा दीप, चलेगा यह सोता बह जाने को

—झरना द्वितीय संस्करण

टिप्पणी

संकट = दो पहाड़ों के बीच की पतली घाटी।

८. नीरद के प्रति

यह चतुर्दशपदी 'माधुरी', वर्ष ४, खण्ड १, संख्या १, जुलाई १९२५ ई० में प्रकाशित हुई थी। यह अजातशत्रु नाटक के तृतीय अंक के तृतीय दृश्य के प्रारम्भ में भी है। अजातशत्रु का प्रथम संस्करण १९२२ ई० में हुआ था और यह कविता उसके प्रथम संस्करण में नहीं थी, उसमें बाद में जुड़ी।

विरुद्धक ने नीरद को संबोधित कर यह गीत गाया है। विरुद्धक मल्लिका को प्रेम करता था; किन्तु मल्लिका अपने स्वामी कोशल के सेनापति को परम पूज्य भाव से देखती थी और पूर्ण पतिव्रता थी। विरुद्धक की दाल न गली, खिसियानी बिल्ली खम्भा

नोचे के अनुसार उसने सेनापति को मार डाला। पर विरुद्धक को मल्लिका नहीं मिली।

कालांतर में राजनीति की चालों ने विरुद्धक को शैलेन्द्र बाबू बना दिया। वह युद्ध में घायल हुआ। उसके बचने की आशा न रही। इस दशा में मल्लिका उसे युद्ध भूमि से उठा ले गई और उसकी ऐसी सुश्रूषा की कि वह बच गया। परन्तु उस मूर्ख ने समझा कि मल्लिका ने पहले जो निष्ठुरता की थी, वह अब निकल गई है और सम्भवत: अब वह उसे प्यार करने लगी है। उसकी इसी मनोभावना का चित्रण इस चतुर्दशपदी में हुआ है।

यह एक प्रतीक प्रधान रचना है। नीरद निष्ठुर प्रिय का प्रतीक है, जो किसी कारण से अब सदय होता हुआ प्रतीत होता है। विरुद्धक नीरद को सम्बोधित करता हुआ कहता है—हे नीरद, संभवत: किसी यक्ष ने तुम्हें अपना संदेश देकर अपनी विरहिणी प्रिया के पास अलका में भेजा था। वहाँ तुम उसकी पलकों का सहारा लेकर जो सुख से सो रहे, तो सोए ही रह गए। इस दुनिया को तुम एकदम भूल गए। परन्तु न जाने कैसे तुम्हें इस दुनिया की याद आ गई और तुम अचानक बरस पड़े। तुम्हें सूखते हुए सरसिज-कानन की याद तो नहीं आ गई? उनका संकोच तो तुम्हें नहीं खींच लाया? मुझे नहीं मालूम था कि जलद में भी इतनी ज्वाला होती है। तुम झुके हुए क्यों हो? तुम्हें किसका सोच है? तुम्हारा निष्ठुर हृदय अभी तक हिम के समान जमा हुआ था। न जाने किस प्रेम की उष्णता से तुम पिघल गए हो। तुम तो करुणा के जीवन हो, उसके प्राण हो। तुम्हारे अंतर में रह-रहकर जो बिजली कौंधती है, वह तुम्हारे हृदय की व्याकुलता सूचित करती है। चातक के 'पी-कहाँ' के रूप में तुम स्वयं करुण विलाप करते हो। आसमान के तारे तुम्हारे आँसू हैं, जिन्हें पोंछकर तुम वर्षा के रूप में स्वयं रोते दिखाई पड़ते हो। न जाने किस हृदय रूपी समुद्र में विरह रूपी बड़वानल जल रहा था, जिससे भाप बनकर, प्रणय रूपी प्रभाकर की किरणों से आकाश में ऊपर चढ़कर, तुम इस अनंत को नाप रहे हो। किसकी समाधि पर जुगनू का दीप जलाकर, पुष्प और आलोक चढ़ाकर, आँसू बहाकर, तुम यह शोक प्रकट कर रहे हो? किस विगत प्रणय-पिपासा की स्मृति, चपला के समान, तुम्हारे हृदय में जग गई है, जो तुम थके प्रवासी बनजारों के समान धीरे-धीरे चले आ रहे हो?

सीधे शब्दों में विरुद्धक कहता है—'हे मल्लिका, अभी तक तुम सेनापति के प्रेम-बंधन में पड़ी हुई थीं। ऐसा प्रतीत होता है, अब तुम्हें मेरा ध्यान हो आया है और तुम्हारा निष्ठुर हृदय अब मुझपर द्रवित हो गया है। मेरे मानस-सागर में विरह का बड़वानल नहीं बुझा था। सम्भवत: उसी का प्रभाव है कि तुम्हें मेरे अतीत प्रयास की स्मृति हो आई है और तुम आज मेरे ऊपर इतनी सदय हो गई हो।'

बहुत से लोगों का आरोप है कि प्रसाद जी के नाटकों में प्राप्त गीत भरती के हैं, ऊपर से ठूँस दिए गए हैं। उनका यह आरोप ठीक नहीं है। प्रसाद के सभी गीत सप्रसंग हैं। हाँ, उनकी यह सबसे बड़ी विशेषता है कि प्रसंग से बाहर कर देने पर भी उनमें स्वतंत्र मुक्तक की अनोखी कांति बनी रहती है। उनका यह गुण ही इन आलोचकों के

लिए दोष हो गया है। स्वतंत्र रूप से ये गीत इतने सुन्दर हैं कि ये आलोचक इन्हें प्रसंग में बिठा ही नहीं पाते।

नीरद के प्रति

अलका की किस विकल विरहिणी की पलकों का ले अवलंब
सुखी सो रहे थे इतने दिन, कैसे हे नीरद निकुरंब
बरस पड़े क्यों आज अचानक, सरसिज-कानन का संकोच
अरे जलद में भी यह ज्वाला, झुके हुए क्यों किसका सोच
किस निष्ठुर ठंडे हृत्तल में, जमे रहे तुम बर्फ समान
पिघल रहे हो किस गर्मी से, हे करुणा के जीवन-प्राण
चपला की व्याुकलता लेकर, चातक का ले करुण विलाप
तारा-आँसू पोंछ गगन के, रोते हो किस दुख से आप
किस मानस-निधि में न बुझा था बड़वानल, जिससे बन भाप
प्रणय-प्रभाकर-कर से बढ़कर, इस अनंत का करते माप
क्यों जुगनू का दीप जला है, पथ में पुष्प और आलोक
किस समाधि पर बरसे आँसू, किसका है यह शीतल शोक
थके प्रवासी बनजारों से, लौटे हो मंथर गति से
किस अतीत की प्रणय-पिपासा, जगती चपला सी स्मृति से

—माधुरी ४/१/१, जुलाई १९२५, अजातशत्रु; द्वितीय संस्करण

टिप्पणी

निकुरंब = समूह। नीरद-निकुरंव = मेघामाला, कादंबिनी, घनघटा। निधि = जलनिधि, समुद्र

१. अनुरोध

पहले यह चतुर्दशपदी 'सुधा' वर्ष १, खण्ड १, संख्या २, सितम्बर १९२७ में प्रकाशित हुई, फिर 'स्कंदगुप्त' नाटक के प्रथम अंक में सम्मिलित हुई। मातृगुप्त अपनी प्रिया मालिनी से वियुक्त, समय का मारा, अपने प्रिय देश कश्मीर से दूर, पाटलिपुत्र में शरणार्थी सा रह रहा है। मालिनी की स्मृति से व्याकुल हो, वह उसे सम्बोधित करता हुआ कहता है—

'प्रिय हमारी युवावस्था के वे प्रारम्भिक दिन थे। हम दीवानी जवानी के उन्माद में परस्पर प्रेम करने लगे थे। हमारे लिए वे संसार में सर्वश्रेष्ठ दिन थे। उतने आनंददायक दिन न पहले कभी आए थे और न भविष्य में उनके आने की सम्भावना

ही है। मेरा अनुरोध है कि संसृति के उन सुन्दरतम क्षणों को यों ही मत भुला देना। वे तो सदैव स्मरण रखने के योग्य हैं। वह तो जवानी की उच्छृंखलता थी, ऐसा कहकर अपने मन को बहलाने का प्रयत्न मत करना। निश्चय ही तुम्हारा भी मन उन सुखद घड़ियों की स्मृति में आकुल हो उठता होगा, पर हो सकता है तर्क के सहारे तुम अपने मन को दूसरी ओर ले जाने का प्रयत्न करती हो। ऐसा करके तुम मेरे ही साथ नहीं, अपने भी साथ अन्याय करती हो।

जब कभी मैं तुमसे मिलने के लिए तड़प उठता था और अपने को न सँभाल पाकर ठंडी आहें भरने लगता था, तब तुम खिलखिला पड़ती थीं। तुम्हारी वह चंचल हँसी अत्यन्त मादक होती थी। उस मादक हँसी के प्याले में लहरें उठा करती थीं, जो तत्क्षण लीन नहीं हो जाती थीं, बल्कि तुम्हारे अधरों का चुंबन करने के लिए कुछ देर तक वहीं बनी रह जाती थीं।

फिर तुम मुझे अपने आलिंगन में जकड़ लेती थीं। जिस प्रकार भौंरा कली के परिरंभण में बंदी के समान काँप उठता है, उसी प्रकार मैं तुम्हारे उस आलिंगन में बँधा सिहर उठता था। उस समय मेरे सुख का प्याला लबालब भर जाने के कारण छलक पड़ता था। उसमें उस समय जो लहरियाँ उठती थीं, वे मेरे सुख की सर्वोच्च माप थीं। मेरा सुख उस समय अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता था।

तुम्हारा सौन्दर्य जो अभी तक मेरे लिए प्रसुप्तावस्था में पड़ा हुआ था, अब सजग हो गया। मेरा हृदय अब उसके प्रति जागरूक हो गया और मेरी भौंहें तुम्हारी चंचल भौहों से मिलने के लिए आतुर होकर बढ़ चलीं। पर मेरे सुख की लहर वहीं समाप्त हो गई। मैंने प्याला अधरों से लगाया ही था कि किसी ने उसे छीन लिया। मेरा सपना टूट गया। मेरे ही नख मेरी छाती छीलने लगे। मेरा हृदय कचोट उठा।

पुरुष ने प्रकृति प्रिया से जो रतिक्रीड़ा की थी, उसमें प्रकृति को नख-क्षत लग गया था। श्यामा रजनी का प्रिय वही नख-दान है, जो चारों ओर से मनोहर मुक्ताओं से घिरा हुआ है। उरोज-द्वय पर मोती माला लटक रही है। श्यामा का वह भव्य नख-दान जीवन के उस पार खड़ा हुआ मेरी हँसी उड़ा रहा था। वस्तुतः वह चंद्रिका नहीं थी, मेरा उपहास था। मानो वह कह रहा था—मिलन की यह चार दिन की चाँदनी है। मैं उसके इस व्यवहार पर चकित हो रहा था।

तुम लज्जित हो गईं। इस लज्जा ने मुझसे विलग हो जाने के लिए तुम्हें बाध्य कर दिया। तुम्हारी इस लज्जा को तो मैं निष्ठुर ही कहूँगा। आलिंगन-मुक्त होकर तुम सुखी प्रतीत हुईं और मेरी ओर इस प्रकार देखने लगीं जैसे मैं तुम्हारा प्रिय नहीं था, जान पहचानी एक राही मात्र था।

प्रिय, एक बार वही आलिंगन-सुख फिर दे जातीं। मैं चाहता हूँ मिलन-क्षितिज की बेला पर, मधु जलनिधि में, एक बार फिर, वैसी ही मृदु लहरें उठ जातीं और मैं कृतार्थ हो जाता।

यह संयोग-स्मृति-प्रधान विरह काव्य है। यह भी नाटक में पात्र के अनुकूल है, भरती नहीं है।

अनुरोध

संसृति के वे सुन्दरतम क्षण, यों ही भूल नहीं जाना
वह उच्छृंखलता थी अपनी, कहकर मत मन बहलाना
मादकता-सी तरल हँसी के प्याले में उठती लहरी
मेरे निश्वासों से उठकर, अधर चूमने को ठहरी
मैं आकुल परिरंभ-मुकुल में, वंदी अलि-सा काँप रहा
छलक उठा प्याला, लहरी में मेरे सुख को माप रहा
सजग सुप्त सौंदर्य हुआ, हो चपल चलीं भौंहे मिलने
लीन हो गई लहर, लगे मेरे ही नख छाती छिलने
श्यामा का नख-दान मनोहर, मुक्ताओं से ग्रथित रहा
जीवन के उस पार उड़ाता हँसी, खड़ा मैं चकित रहा
तुम अपनी निष्ठुर क्रीड़ा के विभ्रम से, बहकाने से
सुखी हुए, फिर लगे देखने मुझे पथिक पहचाने से
उस सुख का आलिंगन करने, कभी भूलकर आ जाना
मिलन-क्षितिज-तट मधु-जलनिधि में, मृदु हिलकोर उठा जाना

—सुधा, वर्ष १, खण्ड १, संख्या २, सितम्बर १९२७

टिप्पणी

श्यामा = रजनी। विभ्रम = अदा, हाव।

१०. उलझन

'उलझन' का प्रथम प्रकाशन मनोरमा, खण्ड २, भाग २, संख्या ५, १९२७ ई० में हुआ। तदनंतर इसका पुर्नदर्शन प्रसाद के सुप्रसिद्ध नाटक स्कंदगुप्त के पंचम अंक में होता है। विपन्न स्कंदगुप्त के चरणों से उलझी हुई विजया उसे प्रलोभन देती है कि मेरे पास अक्षय रत्नागार है। सैन्य संकलन के लिए में वह सारा का सारा तुम्हें दे डालूँगी। तुम मुझे अपने इन चरणों में उलझी पड़ी रहने दो। बस, मैं इतना ही चाहती हूँ। यह रचना भी प्रसाद के अन्य नाटक-गीतों के समान सप्रयोजन है।

विजया निवेदन करती है—अगरु धूम की श्याम लहरियाँ मेरी अलकों को सुवासित करने के लिए उनसे उलझ रही हों। नेत्रों में मादकता की ललाई हो। बिना पिये ही नशा छा रहा हो और वह ललाई पलकों से उलझ रही हो। नशे में पलकें झँप-

झँम जाती हों। जिस प्रकार विजली घनमाला से उलझती है, उसी प्रकार तुम मेरे आर्द्र-हृदय से, मेरे वक्षस्थल से उलझे रहो। मेरे आँसू मेरी बरौनियों से ही उलझे रह जाँय। मेरे अधर प्रेम के प्यालों, तुम्हारे अधरों से, उलझे रहें। मेरे मन की सारी उदासीनता, तुमसे कुछ पाने के लोभ से उलझी रहे। जीवन से बल खाती हुई व्याकुलताएँ उलझ रही हों। जीवन भविष्य के अंधकार से तुम्हारी छवि के प्रकाश की किरणें उलझी हुई हों। निश्चय ही-ये उलझनें एक नया रंग लाएँगी। इस कंपन को सम रूप से, एक गति से अग्रसर होने दो। इस आकुल जीवन की घड़ियाँ, तुम्हारे निष्ठुर आघातों से हर्ष-विषाद के स्वर छेड़ा करें। इस प्रकार किसी तरह मेरा जीवन बीतता चले। अंत में जब मेरी साँसें सदा के लिए उखड़ रही हों, हृदय की धड़कनें जब सीमित होती जाती हों, तब भी, मेरा अनुनय तुम्हारे तीखे तिरस्कार से लांछित होकर भी, उससे उलझ रहा हो। मेरी यह दुर्बल दीनता तुम्हारे चरणों से उस समय भी उलझी रहे, भले ही तुम निर्दयतापूर्वक मुझ दीना-हीना, तन क्षीणा, मन-मलीना को उन्हीं चरणों से ठुकरा दो। ऐसा ठुकरा दो कि मेरी मौत ही आ जाय और तुम मुझसे सदैव के लिए छुटकारा पाकर परम सुखी हो जाओ।

यह है विषादमयी विजया के मानस का शब्द-चित्र।

उलझन

अगरू-धूम की श्याम लहरियाँ, उलझी हों इन अलकों से
मादकता लाली के डोरे, इधर फँसे हों पलकों से
व्याकुल बिजली सी तुम मचलो, आर्द्र-हृदय-घनमाला से
आँसू बरुनी से उलझे हों, अधर प्रेम के प्याला से
इस उदास मन की अभिलाषा, अँटकी रहे प्रलोभन से
व्याकुलता सौ-सौ बल खाकर, उलझ रही हो जीवन से
छवि-प्रकाश-किरनें उलझी हों, जीवन के भविष्य तम से
ये लाएँगी रंग सुलालित, होने दो कंपन सम से
इस आकुल जीवन की घड़ियाँ, इन निष्ठुर आघातों से
बजा करें अगणित यंत्रों से, सुख दुख के अनुपातों से
उखड़ी साँसें उलझ रही हों, धड़कन से कुछ परिमित हो
अनुनय उलझ रहा हो, तीखे तिरस्कार से लांछित हो
यह दुर्बल दीनता रहे उलझी, फिर चाहे ठुकराओ
निर्दयता के इन चरणों में, जिसमें तुम भी सुख पाओ

—मनोरमा, खण्ड २, भाग २, संख्या ५, १९२७ ई०; स्कंदगुप्त, पंचम अंक

टिप्पणी

प्राचीन काल में जब इत्र का अविष्कार नहीं हुआ था, अगरबत्ती के धुएँ से बालों को सुगन्धित किया जाता था।

११. मनुहार

सर्वप्रथम मार्च १९३३ की 'माधुरी' में यह रचना 'मनुहार' शीर्षक से प्रकाशित हुई। अब यह शीर्षक हीन होकर 'लहर' में संकलित है।

'मनुहार' एक रहस्यवादी रचना है, यद्यपि इसमें लौकिक संयोग शृंगार का स्वर अत्यंत प्रबल है। इसमें आँख मिचौनी का दृश्य कवि ने अंकित किया है।

प्रिय तुम अपनी अलकों के अंधकार में छिपकर आना चाहते हो। यह कैसे संभव हो सकता है? तुम्हारे मुख-चंद्र का प्रकाश तो आगे-आगे स्वयं फैलता जायेगा, जो तुम्हारे आगमन की सूचना स्वयमेव देता जायेगा, फिर तुम्हारा आना कैसे छिप सकेगा। तुम इतना सजग कुतूहल कभी न बन पाओगे। जिस कुतूहल की अभिवृद्धि तुम अपने आकस्मिक आगमन से करना चाहते हो, वह होता दीखता नहीं।

अपने को छिपाने के लिए ही तुम बिल्ली के समान दबे पाँव अग्रसर होते हो— पाँवों को इस प्रकार जब दबाकर तुम चलते हो, तब उन पर भार अधिक पड़ता है और भार के इस दबाव के कारण रक्त नीचे दबकर पैरों से बाहर निकल जाना चाहता है, पर मोटे चमड़े के कारण रुक जाता है और पैरों की ललाई और बढ़ जाती है, उसी प्रकार जिस तरह पूर्व में उषा की लालिमा एकाएक छा जाती है। जो चरण मेरे लिए चुंबन की वस्तु हैं, उन्हें इस प्रकार व्यर्थ ही दुखाओ मत। यह वसुधा तुम्हारे चरण-चिह्न सी बनकर यहीं पड़ी रह जाएगी और इसकी रज को लेकर प्राची उषःकाल में अपने भाल का कुंकुम-शृंगार करेगी।

तुम अपने को इतना कष्ट इसीलिए तो दे रहे हो कि मैं तुम्हें आते हुए कहीं देख न लूँ। अगर तुम्हारी यही इच्छा है, तो लो मैं सिर नीचे किए लेता हूँ और इधर-उधर नहीं देखूँगा।

तुम चाहते हो कि छिपे-छिपे, चुपके-चुपके, पीछे से आकर, अपनी मांसल उंगलियों से, मेरे खुले हुए दृग बंद कर लो और यह चाहोगे कि मैं बताऊँ कि किसने मेरी आँखें बंद कर ली हैं। किन्तु तुम अपने अधरों में छिपी हँसी को नहीं दबा पाओगे। तुम्हारे इस हँसने से मैं तुम्हें तत्काल पहचान लूँगा, फिर तुम्हारा यह सारा प्रयास व्यर्थ हो जायगा। इसलिए पहले अपने अधरों की हँसी दबाओ, यदि साधारण ढंग से इस कार्य में सफल न हो सको, तो मुँह में अपना कंपनमय, शिथिल, मृदुल, अंचल भर लो। तुम्हारा फूटता हुआ कल-हास इससे बंद हो जायगा।

प्रिय, बेला बीतती जा रही है। आकर चंचल बाहु-लता से मुझे जकड़ लो।

अब इसमें क्या रक्खा है कि तुम कौन हो और मैं क्या हूँ। हे मेरे सदैव दूर बने रहनेवाले क्षितिज, उदार बनो, निकट आ जाओ और मेरे मानस-जलधि को चिर-चुंबित कर दो।

मनुहार

निज अलकों के अंधकार में, तुम कैसे छिप आओगे?
इतना सजग कुतूहल! ठहरो, यह न कभी बन पाओगे।
आह, चूम लूँ जिन चरणों को, चाँप-चाँप कर उन्हें नहीं
दुख दो इतना, अरे अरुणिमा ऊषा-सी वह उधर बही
वसुधा चरण-चिह्न-सी बनकर, यहीं पड़ी रह जावेगी
प्राची रज-कुंकुम ले चाहे, अपना भाल सजावेगी
देख न लूँ, इतनी ही तो है इच्छा, लो सिर झुका हुआ
कोमल किरन-उँगलियों से, ढँक लोगे यह दृग खुला हुआ
फिर कह दोगे, पहचानो तो, मैं हूँ कौन बताओ तो
किन्तु उन्हीं अधरों से, पहिले उनकी हँसी दबाओ तो
सिहर भरे निज शिथिल मृदुल अंचल को, अधरों से पकड़ो
बेला बीत रही है चंचल, बाहु-लता से आ जकड़ो
तुम हो कौन और मैं क्या हूँ? इसमें क्या है धरा, सुनो
मानस-जलधि रहे चिर चुंबित, मेरे क्षितिज उदार बनो

—माधुरी, मार्च १९३३; लहर

गजल-प्रणाली

गजल-प्रणाली की दो ही रचनाएँ है—१. सरोज, २. स्वर्ण संसार। इनमें प्रथम तथा द्वितीय चरणों का एक तुक है। यही तुक शेष सभी सम-चरणों का है, विषम-चरण तुक-हीन है। यही गजलों की तुक-प्रणाली है।

१. सरोज

'सरोज' गजल-पद्धति की प्रसाद जी की अत्यंत प्रारम्भिक रचना है। इसका प्रकाशन 'इंदु' मार्च १९१२ में हुआ था।

अरुण अभ्युदय से हो मुदित-मन, प्रशस्त सरसी में खिल रहा है।
प्रथम पत्र का प्रसार करके, सरोज अलि-गन से मिल रहा है।
गगन में संध्या की लालिमा से, किया संकुचित वदन था जिसने,
दिया न मकरंद प्रेमियों को, गले उन्हींके वो मिल रहा है।
तुम्हारा विकसित वदन बताता, हँसे मित्र को निरख के कैसे
हृदय निष्कपट का भाव सुन्दर, सरोज! तुझ पर उछल रहा है।
निवास जल ही में है तुम्हारा, तथापि मिश्रित कभी न होते
मनुष्य निर्लिप्त होवे कैसे, सुपाठ तुमसे ये मिल रहा है।
उन्हीं तरंगों में भी अटल हो, जो करना विचलित तुम्हें चाहती
मनुष्य कर्त्तव्य में यों स्थिर हो—ये भाव तुममें अटल रहा है।
तुम्हें हिलावे भी जो समीरण, तो पावे परिमल प्रमोद-पूरित
तुम्हारा सौजन्य है मनोहर, तरंग कहकर उछल रहा है,
तुम्हारे केशर से हो सुगंधित, परागमय हो रहे मधुव्रत
'प्रसाद' विश्वेश का हो तुम पर, यही हृदय से निकल रहा है।

—इंदु, मार्च १९१२

टिप्पणी

मित्र = प्रिय, सूंर्य। प्रमोद = सुगंध

२. स्वर्ण-संसार

सर्वप्रथम यह चतुर्दशपदी चाँद नवम्बर १९३३ के नव वार्षिक विशेषांक में मुख पृष्ठ पर 'स्वर्ण संसार' शीर्षक से प्रकाशित हुई। फिर यह शीर्षक-हीन होकर 'लहर' में संकलित हुई।

इस चतुर्दशपदी में एक अत्यन्त कोमल स्वर्ण-संसार की कल्पना की गई है। प्रकृति का अत्यन्त कोमल चित्र है। यहाँ कवि कुछ-कुछ पलायनवादी सा प्रतीत होता है। पर प्रत्येक के जीवन में एक समय ऐसा अवश्य आता है, जब वह एकान्त की कामना करता है, इतना एकान्त जहाँ और कोई न पहुँच सके। इसे पलायनवाद नहीं कहा जा सकता।

मेरे जीवन में दो दिनों के लिए न जाने कहाँ से भूली वसन्त ऋतु आ गई है। मैं अपने दु:ख के इस नए साथी के लिए एक नवीन नीड़ का निर्माण कर देना चाहता हूँ।

यह कुटिया सबसे अलग होगी—संसार के सबसे सूने कोने में। ऊपर आकाश होगा, नीचे यह धरती। यह नीड़ सूखे तिनकों से नहीं निर्मित होगा। यह आशा के अंकुरों और उसी के पल्लवों से बनेगा। मेरी यह कुटिया इतनी अधिक वैभव-हीन होगी कि इससे कोई भी ईर्ष्या न करेगा।

सिहरन उत्पन्न करती हुई, काँपती हुई, उष:कालीन मलयानिल की लहरें आवेंगी। वे मेरे मानस के नयन-नलिन को चूम कर जगा देंगी।

मेरी उस लघु प्राची में जपा कुसुम के समान अरुण उषा खिला करेगी। उषा के अरुण अधरों की लाली सारे दिन को रँग देगी।

दिवसावसान के पश्चात रात्रि में चन्द्रमा अपनी कोमल किरणों से शीतलता बरसाएगा और ओस-कणों को बिखेर कर जगती के ताप को हर लेगा।

मैं जो यह एकान्त-सृजन कर रहा हूँ, चाहता हूँ, यह अवाध हो। मेरे पास जो कुछ भी सुन्दर कहे जाने योग्य है, मैं वह सभी इसे दे देना चाहता हूँ। मुझे कोई रोके नहीं।

स्वर्ण-संसार

अरे आ गई है भूली-सी, यह मधु ऋतु दो दिन को,
छोटी सी कुटिया मैं रच दूँ, नई व्यथा-साथिन को।
वसुधा नीचे, ऊपर नभ हो, नीड़ अलग सबसे हो,
झारखंड के चिर पतझड़ में, भागो सूखे तिनको।
आशा से अंकुरं झूलेंगे, पल्लव पुलकित होंगे
मेरे किसलय का लघु भव यह, आह खलेगा किनको?
सिहर भरी कँपती आवेंगी, मलयानिल की लहरें,
चुंबन लेकर और जगाकर, मानस नयन-नलिन को।
जपा कुसुम सी उषा खिलेगी, मेरी लघु प्राची में,
हँसी भरे उस अरुण अधर का राग रँगेगा दिन को।
अंधकार का जलधि लाँघकर, आएँगी शशि-किरनें
अंतरिक्ष छिड़केगा कन-कन, निशि में मधुर तुहिन को
इस एकांत सृजन में कोई, कुछ बाधा मत डालो
जो कुछ अपने सुन्दर से हैं, दे देने दो इनको

—चाँद, नवम्बर १९३३

जयशंकरप्रसाद की कृतियाँ

कविता

चित्राधार	१९१८ ई०
करुणालय	१९१३ ई०
कानन-कुसुम	१९११, १९१३ ई०
प्रेम-पथिक	१९१३ ई०
महाराणा का महत्त्व	१९२८ ई०
आँसू	१९२५ ई०
झरना	१९१९ ई०
लहर	१९२३ ई०
कामायनी	१९३५ ई०

नाटक

राज्यश्री	१९१५ ई०
विशाख	१९२१ ई०
अजातशत्रु	१९२२ ई०
जनमेजय का नाग-यज्ञ	१९२७ ई०
कामना	१९२७ ई०
स्कन्दगुप्त	१९२८ ई०
एक घूँट	१९२९ ई०
चन्द्रगुप्त	१९३१ ई०
ध्रुवस्वामिनी	१९३३ ई०
अग्निमित्र	१९३५ ई०

कहानी

छाया	१९१११५ ई०
प्रतिध्वनि	१९२७ ई०
आकाशदीप	१९२९ ई०
आँधी	१९२९ ई०
इन्द्रजाल	१९३५ ई०

उपन्यास

कंकाल	१९२९ ई०
तितली	१९३४ ई०
इरावती	१९३५ ई०

अन्य

काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध	१९३८ ई०

120450
25/10/05

अंतरंग संस्मरणों में जयशंकर 'प्रसाद'

प्रस्तुतकर्ता

पुरुषोत्तमदास मोदी

जयशंकर 'प्रसाद' छायावाद युग के महान कवि थे। वे बहुआयामी प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने अपने नाटकों, निबन्धों, कहानियों और कविताओं के माध्यम से भारतीय-संस्कृति को उजागर किया है और हिन्दी-साहित्य भण्डार को परिपुष्ट किया है। वे मौन साहित्य सेवी थे। दुनिया के कोलाहल से दूर रहकर साहित्य सर्जना की। वे किसी भी समारोह-सम्मेलनों से दूर रहते थे। इस कारण उनके व्यक्तिगत जीवन पर प्रकाश नहीं पड़ता। यह सौभाग्य की बात है कि उनके समकालीन साहित्यकारों में पण्डित सीताराम चतुर्वेदी, प्रसादजी के अंतरंग मित्र डॉ० राजेन्द्रनारायण शर्मा और मैत्रेयी सिंह प्रभृति के पास उनके अनेक संस्मरण हैं, जिनका संकलन इस ग्रन्थ में किया गया है।

इस ग्रन्थ में प्रसादजी के जीवन पर प्रकाश डालने वाले संस्मरणों का संकलन किया गया है। जिससे उनके व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश पड़े। प्रसादजी के जीवन के प्रायः विभिन्न पक्षों पर उनके समकालिक मित्र रायकृष्णदास, विनोदशंकर व्यास, शिवपूजन सहाय, रामवृक्ष बेनीपुरी, रामनाथ सुमन, केशवप्रसाद मिश्र, महादेवी वर्मा, नन्ददुलारे वाजपेयी, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज', अमृतलाल नागर प्रभृति के दुर्लभ संस्मरण से नयी जानकारी मिलती है। इस संकलन में ऐसे भी संस्मरण हैं जिनसे अनछुये पक्षों पर प्रकाश पड़ता है।

इस पुस्तक में संकलित रचनाओं से प्रसादजी के जीवन पर समग्र रूप से नयी जानकारी प्राप्त होती है। सम्पादक श्री पुरुषोत्तमदास मोदी ने इन संस्मरणों का संकलन-सम्पादन कर प्रसाद साहित्य को समझने में नयी दिशा दी है।

Library IIAS, Shimla
H 811.6 G 959 P
00120450

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी